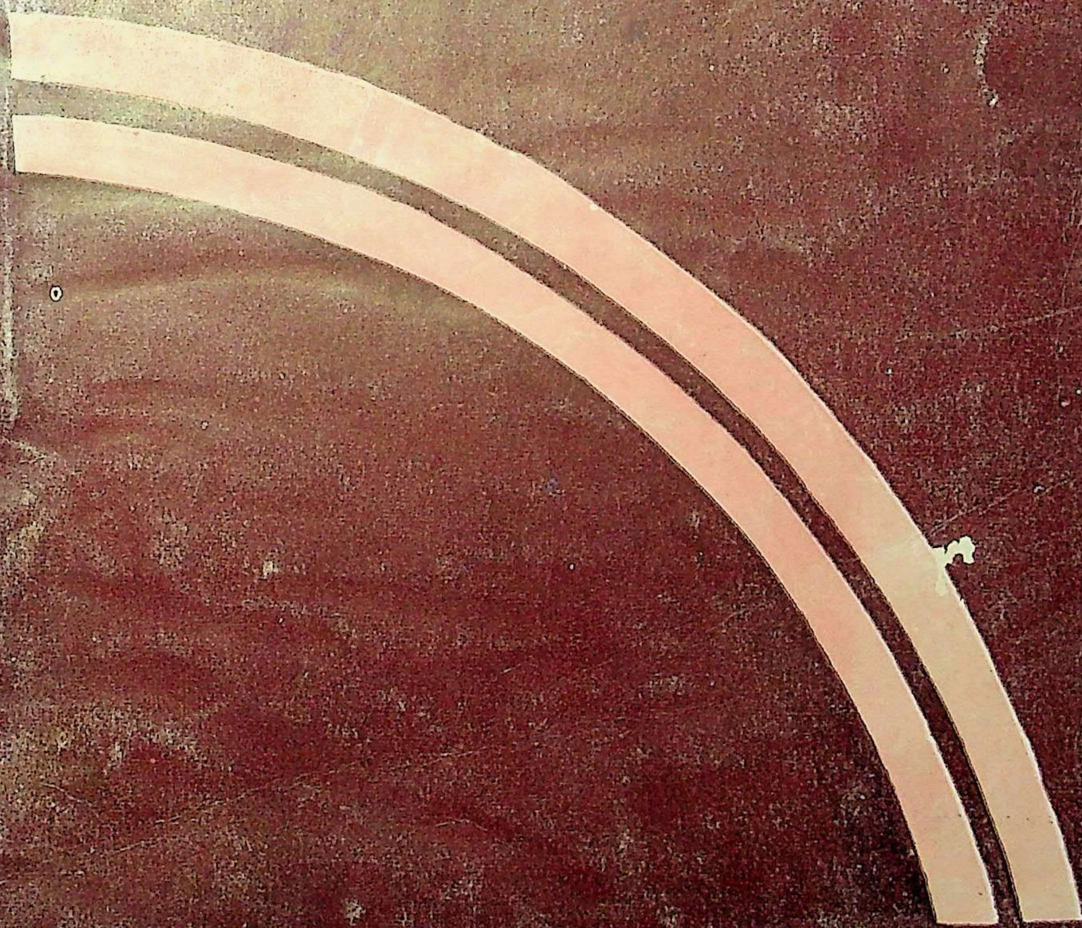


५४ **शीराज़ा**

द्विमासिक **हिन्दी**

प्रमुख सम्पादक : मुहम्मद यूसुफ टेंग सम्पादक : रमेश मेहता

वर्ष : १६ / अंक : ४ (दिसम्बर-जनवरी, १९८०) ; **सम्पादकीय पत्र व्यवहार** : रमेश मेहता, सम्पादक : **शीराज़ा हिन्दी**, जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी, नहर मार्ग, जम्मू ;

फोन : ५०४० **यह अंक** : दो रुपये **वार्षिक शुल्क** : दस रुपये

अनुक्रमणिका

अपनी बात

•

इधर हिन्दी के साहित्यिक हलकों में एक विचित्र क्राइसिस पैदा हो गया है। रीतिकाल और छायावाद की छाया से बाहर निकल आए साहित्यकार 'आम आदमी' के गीत गाते सुनाई दे रहे हैं। 'वाद' विशेष के गुट से जुड़े हुए कवि-लेखक उस विशेष समुदाय के 'दर्शन' को अपनी रचनाओं में प्रतिपादित करते हुए कविता को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करने की बातें कर रहे हैं। विडम्बना यह है कि जहां यह दर्शन काव्यगत स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है वहां यह उस आदमी तक सम्प्रेषित होने में असमर्थ रहा है जिसके लिए कि यह सब लिखा जा रहा है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हमें मुक्तिबोध के काव्य में मिलता है। मुक्तिबोध को 'आम आदमी' का मसीहा कहा जा सकता है किन्तु मुक्तिबोध की कविता कितने लोगों तक सम्प्रेषित हो पाती है—इसे कोई भी सरलता से समझ सकता है। इसके विपरीत जो कविता पाठकों तक सहज ही सम्प्रेषित हो रही है उसमें काव्यगुणों की कमी प्रबुद्ध पाठक को अखरने लगती है क्योंकि वहां वह कविता न होकर एक वक्तव्य, एक भाषण हो जाती है।

इसी के साथ एक और स्थिति ने भी साहित्य के विद्यार्थियों को दुविधा में डाल दिया है। इधर हिन्दी के अधिकांश समर्थ कवि अपने बुद्धिजीवी एवं व्यवहार-कुशल होने का लाभ उठा कर उच्च सरकारी / गैर सरकारी पदों को सुशोभित करने में समर्थ हुए हैं। इन लोगों के साथ एक दिक्कत अभी बनी हुई है कि सुविधाजनक जीवन जीते हुए भी वे साहित्य में उस आदमी की बात कर रहे हैं जो शोषित, प्रताड़ित और ज़िन्दगी की पेचीदगियों से घबराया हुआ है। परिणाम यह होता है कि पाठक उनकी बात को किस रूप और संदर्भ में ग्रहण कर रहा है—इसे भूल कर हिन्दी के वे साहित्यकार जो कारणवश अभी भी सुविधाओं से वंचित हैं उनकी आलोचना करते हैं। उन्हें लगता है कि सुविधाजनक जीवन जीते हुए आम आदमी के दुख-दर्द को साहित्य का विषय बनाने वाले साहित्यकार अपने साथ ही नहीं, समूची मानवता के साथ बेईमानी कर रहे हैं। उनका तर्क है कि वातानुकूलित कमरों में बैठ कर दुखी जनों की बात कहने वाला साहित्यकार दुखियों के दुख को अपने स्वार्थ के लिए भुना रहा है।

यहीं आकर यह प्रश्न जन्म लेता है कि किसी भी साहित्यकार के साहित्य में अभिव्यक्त होने वाले और रोजमर्रा की जरूरतों से समझौते करने या जूझने वाले व्यक्तित्व का एक होना क्या ईमानदार साहित्य की पहली शर्त है ? मैं समझता हूं कि साहित्य और व्यक्ति को एक मान कर हम भारी भूल कर रहे हैं। कोई भी साहित्यकार—वह कितने ही ऊंचे पद पर क्यों न आसीन हो—कुछ ऐसे दबावों को झेल रहा होता है जो उसकी साहित्य रचना की शक्ति होते हैं और जिन्हें लोग उनके पद और प्रतिष्ठा की चकाचौंध में खो जाने के कारण अनदेखा कर जाते हैं। यहीं इस तथ्य पर भी ध्यान देना होगा कि साहित्यकार का गवाह उसकी रचना को माना जाना चाहिए न कि उसके व्यक्तिगत जीवन को। यदि वातानुकूलित कमरे में बैठकर किसी मजदूर की वेदना को परिपक्व अनुभव और गहन रचना प्रक्रिया के प्रतिफलन के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है और रचना का व्यंग्य अपनी सही मार कर रहा है तो इसकी प्रामाणिकता और ईमानदारी पर प्रश्नचिन्ह लगाने से पहले हमें अपने भीतर झांक कर देख लेना चाहिए। अतः किसी भी रचना की प्रामाणिकता के संदर्भ रचना में से जुटाने होंगे न कि साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन से। इसी बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए समाप्त करना चाहूंगा कि किसी भी 'फिनिश्ड प्रॉडक्ट' को बनाने के लिए जिस कच्चे माल का प्रयोग किया जाता है वह प्रायः घृणा अथवा जुगुप्सा जगाने वाला होता है किन्तु अततः हम 'तैयार माल' को उसके गुणों के आधार पर, उसकी 'अपील' को मद्देनज़र रखते हुए खरीदते या स्वीकारते हैं और कि उसके निर्माण की अवस्था में उसकी स्थिति क्या थी, इसे हम भुला देते हैं। किसी और संदर्भ में कही गई इस बात को प्रस्तुत संदर्भ में लागू करने से भी समस्या का समाधान हो सकता है कि—**मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।**

●

कारणवश "आपकी बात" स्तम्भ इस अंक में न दे पाने का हमें खेद है। अगले अंक में यह कमी पूरी कर दी जायेगी।

—रमेश मेहता

'रेणु' का कथा - शिल्प

—हरिकृष्ण कौल

किसी साहित्यिक कृति में कथ्य या मूलवस्तु का महत्त्व निर्विवाद है। परन्तु कृति या अंतिम-वस्तु में उस कथ्य या मुलवस्तु के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। मूलवस्तु को अंतिम-वस्तु का, अथवा कथ्य को कृति का रूप देने के लिये लेखक जिन युक्तियों का प्रयोग करता है वे ही शिल्प हैं। शिल्प वह माध्यम है जो अनुभूति को अभिव्यक्ति में बदल देता है। अतः लेखक के मूल अनुभव को छोड़कर कृति में जो कुछ भी हो, उसे शिल्प के अन्तर्गत रखा जा सकता है। शिल्प अपने में कोई निरपेक्ष इकाई भी नहीं है। प्रत्येक अनुभूति अपने लिये उचित माध्यम तथा अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त उपकरणों की मांग करती है। अपने कथ्य को सही ढंग से अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से लेखक असंख्य सम्भावनाओं में से कुछेक को चुनने के लिये विवश होता है और चुनने की यह प्रक्रिया ही शिल्प-चेतना है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिल्प रूपवादी-रीतिवादी सीमाओं से मुक्त होकर लेखक के उद्देश्य से जुड़ जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि शिल्प एक प्रकार से कथ्य का ही विस्तार है।

फणीश्वर नाथ 'रेणु' की कहानियों में चित्रित मानव स्थितियां जिस प्रकार अजीब दीखने के बावजूद चिर-परिचित लगती हैं, उसी प्रकार उनका कथा-शिल्प भी अटपटा दीखने के बावजूद बहुत ही सहज और स्वाभाविक है। रेणु का कथा-शिल्प उन्हीं को अटपटा लगता है और उन्हीं लोगों को इससे सबसे अधिक आघात भी लगता है जो चुस्त-दुरुस्त तथा एक सरल रेखा में चरम सीमा तक पहुंच कर समाप्त होने वाली कहानियां पढ़ने के आदी हों, अथवा जो कहानी की शास्त्रीय परिभाषाओं के आधार पर उसमें 'शुद्धता' की मांग करते हों। जिन्होंने पाठ्य-पुस्तक में यह पढ़ा हो कि कहानी (शार्ट स्टोरी) में मुख्य कथा के अतिरिक्त अन्य कोई उपकथा या प्रासंगिक कथा नहीं होती है, तथा इसमें पात्रों की संख्या तीन चार से अधिक नहीं होती है, उन्हें यह देखकर सचमुच परेशानी होती है कि 'रेणु' की कहानियों में मुख्य कथा के साथ-साथ प्रासंगिक कथाएं ही नहीं, अनेक उपाख्यान, वृत्तांत, असम्बद्ध प्रसंग, गप्पें, अफवाहें, चुटकले तथा दर्जनों उपस्थित पात्रों के साथ बीसियों अनुपस्थित व्यक्तियों के किस्से मिलते हैं। सम्भवतः इसी कारण कुछ लोगों को यह शिकायत है कि रेणु की कहानियां

शिल्प की दृष्टि से 'ढीली' हैं। परन्तु तथ्य यह है कि रेणु का कथ-संसार इस वास्तविक संसार का बहुआयामी प्रतिरूप है। शुद्धता और शास्त्रीयता का मोह त्याग कर उन्होंने जन-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों को कांट-छांट कर इस प्रकार परस्पर जोड़ा है जिससे समय के यथार्थ और मानव-नियति का एक 'कोलाज' हमारे सामने उभरता है। इस बात को 'रेणु' की कहानियों की संरचना की परीक्षा से स्पष्ट किया जा सकता है।

कहानियों की संरचना

कहानी की संरचना से तात्पर्य उसका नियोजित ढांचा है। इसके अन्तर्गत कहानी में वर्णित विभिन्न प्रसंग और विवरण तथा उनका संगुम्फन और संघटन आता है। 'रेणु' की कहानियों की विशेषता यह है कि उनमें आवश्यक वर्णन के साथ साथ मुख्य कथा के विकास की दृष्टि से विषयांतर से लगने वाले अनावश्यक (?) प्रसंग और विवरण भी मिलते हैं। परन्तु ये अनावश्यक दीखने वाले प्रसंग वास्तव में अनावश्यक नहीं, वल्कि कथा-संरचना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इन विवरणों का प्रभाव बड़ा ही सूक्ष्म तथा कहानी के समग्र प्रभाव में संयोजक होता है। ये विवरण कथानक के न सही, कथात्मकता के अविच्छिन्न अंग होते हैं। **कथानक** (प्लॉट) **और कथात्मकता** (नैरेटिव) के मध्य अन्तर को समझना आवश्यक है। कथानक कहानी के मोटे कथा-सूत्रों को कार्य-कारण सम्बंध में बांधने वाली वह सरल रेखा है जिसका सम्बंध हमारी उत्सुकता-वृत्ति के साथ होता है। कथात्मकता का निर्माण कथानक की सरल रेखा के चारों ओर बिखरे उन बिन्दुओं से होता है जो कहानी को गहराई देते हैं और जिनका सम्बंध जन-जीवन के साथ हमारी स्वाभाविक रुचि से होता है। नार्थ्रोप फ्राइ ने कथानक और कथात्मकता के मध्य अन्तर को बहुत ही सटीक शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"कथानक उन वृक्षों और भवनों के समान है जिन पर रेलगाड़ी की खिड़की से हमारी दृष्टि पड़ती है। कथात्मकता उन झाड़-झंखाड़ और रोड़-कंकड़ के समान है जो हमारी आंखों के आगे से अग्रभूमि में तेज़ तेज़ गुज़रते हैं।"

अन्य नये कहानीकारों की तरह रेणु ने भी प्लॉटवादी कहानियां बहुत कम लिखी हैं। किन्तु उनकी प्रायः सभी कहानियों में उपरोक्त कथात्मकता अनेक प्रसंगों, उपाख्यानों, वृत्तान्तों और मिथकों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस कथात्मकता का, जिसे डॉ० नामवर सिंह ने कहानीपन की संज्ञा दी है, कहानी में वही स्थान है जो स्थान कविता में लय का है। सच तो यह है कि छोटे छोटे प्रसंगों तथा विवरणों से निर्मित यह कथात्मकता 'रेणु' की कहानियों को एक लय भी प्रदान करती है। रेणु की कुछेक कहानियों की संरचना की परीक्षा से लेखक की कथात्मकता-पद्धति को सहज ही पहचाना जा सकता है। वे किसी व्यक्ति, या किन्हीं व्यक्तियों के जीवन से सम्बंधित प्रसंगों को काट-कूट कर तथा उनके ऊपरी कार्य-कारण सम्बंध को तोड़कर उन्हें भाव-साहचर्य या अन्य किसी सूत्र के सहारे फिर से जोड़कर एक 'स्ट्रक्चर' खड़ा करते हैं। **तीन बिंदियां** कहानी की गीताली के विषय में यह लिखकर कि "इस ज़िन्दगी के कुछ अंश को काट लेती है, गीताली, टुकड़े-टुकड़े करती है, मसल डालती है। फिर, चूर्ण-

विचूर्ण क्षणों की सुर-कणिकाओं को सहायक नाद की सहायता से परखती है", रेणु मानो अपनी इसी पद्धति की ओर संकेत करते हैं। सहायक नाद से रेणु का तात्पर्य क्या है, इसकी चर्चा आगे की जायेगी। यहां उनकी कथात्मक-संरचना को उनकी कुछ कहानियों के संदर्भ में देखने का प्रयत्न किया जायेगा।

रसप्रिया रेणु के प्रथम कहानी-संग्रह **ठुमरी** की पहली कहानी है। बूढ़े पंचकौड़ी मिरदंगिया का चरवाहे बालक मोहना की अपूर्व सुन्दरता को देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना ही वह बिन्दु है जिससे उस कहानी का आरम्भ होता है। मोहना पंचकौड़ी मिरदंगिया से यह पूछकर कि क्या उसकी उंगली रसप्रिया बजाते टेढ़ी हुई है, मानो उसकी दुखती रग को छेड़ देता है। बूढ़े मिरदंगिया के साथ-साथ पाठक भी यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि मोहना से यह बात किसने कही ? मोहना कौन है ? पंचकौड़ी कौन है ? वह व्यक्ति कौन है जिसने मोहना से मिरदगिया की उंगली टेढ़ी होने की बात कही है ? उंगली टेढ़ी होने का असली रहस्य क्या है ? —ये प्रश्न पाठक के मन में अनेक जिज्ञासाएं जगाते हैं। यद्यपि कथा में इन सभी प्रश्नों के समाधान, या कम से कम इस हेतु कुछ संकेत मौजूद हैं, फिर भी लेखक का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार की जिज्ञासाओं को शांत करना नहीं है। उन्होंने इन पात्रों के जीवन के विभिन्न प्रसंगों, इनके विषय में फैली अफवाहों तथा इनके परिवेश से सम्बंधित अनेक वृत्तान्तों को ज़ाहिरी तौर पर बेतरतीबी से प्रस्तुत किया है जिससे एक मानवीय स्थिति अपने अनेक आयामों में मूर्तिमान हो जाती है। मोहना उसी रमपतिया का बेटा है जिसे पचकौड़ी किन्हीं कारणों से अपनी नहीं बना पाया था। मोहना जैसा बेटा पाकर रमपतिया 'महारानी' है, यह एहसास मानो उसे अपने अपराध-बोध से मुक्त करता है। वह मन में निश्चय करता है कि अब वह रसप्रिया नहीं, निर्गुण गायेगा—'रसप्रिया' का मुख्य कथा-सूत्र यही है। परन्तु कहानी की समग्र-सरचना में इसका महत्त्व यत्र-तत्र बिखरे लघु-प्रसंगों अथवा उपाख्यानों, यथा परमानपुर में एक ब्राह्मण के लड़के को बेटा कहने पर पंचकौड़ी की मार-पिटाई होना, कमलपुर के नन्दू बाबू के यहां उसे दो जून भोजन और चार मीठी बातें नसीब होना, शोभा मिसर के छोटे लड़के का उसे बेमानी करना, मिरदंगिया का पुराने दिनों के प्रति 'नास्टेलजिआ' और यह पीड़ा कि क्या कुछ दिनों के बाद कोयल भी कूकना भूल जायेगी, लोकगीत की कड़ी जिसमें खेतों में काम करने वाले हलवाहों और मज़दूरों से कोई विरही पूछता है कि किसी ने उसकी रूठी हुई धनी को तो नहीं देखा, गुलाब बाग मेले में मिरदंगिया की रमपतिया से भेंट और कमलपुर के नन्दू बाबू का नाम लेकर उसका उस पर लांछन लगाना, मोहना का नन्दू बाबू के यहां नौकरी करना और उसकी बड़ी-बड़ी आंखों का नन्दू बाबू की आंखों जैसी होना तथा आकाश में उड़ने वाली चील के मोटिफ आदि से अधिक नहीं है। यही प्रसंग और उपाख्यान अन्यथा भावुकतापूर्ण कथा को समान-सापेक्षता और परिणामस्वरूप अर्थ प्रदान करते हैं।

तीसरी कसम अर्थात् मारे गए गुलफाम रेणु की कदाचित सर्वाधिक चर्चित कहानी है। कहानी का आरंभिक बिन्दु है एक छोटा सा वाक्य—"हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी

लगती है।" इस वाक्य के तुरन्त बाद ही कहानी में फ्लैश-बैक के द्वारा हिरामन की पहली दो कसमों से सम्बंधित घटनाओं और प्रसंगों का वर्णन मिलता है और तब हिरामन की पीठ में गुदगुदी लगने का ठहरा हुआ बिन्दु फिर से हरकत करने लगता है। परन्तु जिस पथ पर वह आगे बढ़ता है वह कोई सरल रेखा न होकर एक अनियमित और वक्र रेखा है। हिरामन और हीराबाई की परस्पर स्निग्धता और आकर्षण से चलकर यह कथा-विन्दु अनेक बिखरे-छिटके प्रसंगों से गुज़र कर कथा के अन्त में अलगाव की नियति तक पहुंचता है। ये बिखरे-छिटके प्रसंग हैं—हीराबाई की नज़ाकत और नफासत के मुकाबले में चालीस साल के हट्टे-कट्टे काले-कलूटे देहाती नौजवान हिरामन का उजड्ड पूर्ववृत्तान्त, हिरामन की गप्पबाज़ी, नामलगर ड्योढ़ी के राजा की कहानी जिसके घर 'देवता' ने जन्म लिया था और जिसे लाट साहब भी नहीं, सिर्फ लाटनी पहचान सकी थी, घोड़-लद्दे बनियों के साथ हिरामन का मज़ाक, गांव के बच्चों का गाड़ी देखकर रटे अन्दाज़ में 'लाली लाली डोलिया में लाली रे दुलहिनियां' गाना और हिरामन का दिवास्वप्न कि वह सचमुच दुलहिन लेकर लौट रहा है, महुआ घटवारिन का गीत जो कहानी को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करता है, हिरामन के साथी-गाड़ीवानों के किस्से, लाल मोहर का हीराबाई से कचराही बोली में वात करके यह जताना कि वह हिरामन से अधिक 'पावर' वाला आदमी है, दास बैस्नव पलटदास जिसे नौटंकी की दास्तान 'रमैन' की ही बात और गुलबदन बनी हीराबाई सिया सुकुमारी दिखाई देती है, लहसनवां का—जिसे सबसे अच्छा जोकर का पार्ट लगा था—हीराबाई की साड़ी धोकर अपने को भाग्यशाली समझना, इन लोगों का अन्य तमाशबीनों के साथ झगड़ा, इत्यादि इत्यादि। ये सारे छोटे छोटे प्रसंग और वृत्तांत कहानी की संरचना के महत्त्वपूर्ण घटक हैं और मुख्य कथा की सतह से नीचे जाकर उसे गहराई प्रदान करते हैं।

हाथ का जस वाक का सत्त, विघटन के क्षण और **अच्छे आदमी** आदि कहानियों की संरचना भी इसी प्रकार विविध प्रसंगों और उपाख्यानों को जोड़कर खड़ी की गई है। **तेब एकला चलो रे** यद्यपि एक 'ड्रामाटिक मॉनोलॉग' है फिर भी उसमें किसी प्रकार की नाटकीय प्रत्यक्षता नहीं, जीवन के लघु प्रसंगों का बिखराव मिलता है। **एक आदिम रात्रि की महक** में करमा की आदिम तृषा की कहानी ही नहीं, बीसियों पात्रों के बीसियों किस्से भी मिलते हैं। संरचना की दृष्टि से **रेखाएं : वृत्तचक्र** भी 'रेणु' की उल्लेखनीय कहानी है। इसमें न केवल विभिन्न व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न प्रसंगों का संगुम्फन मिलता है, अपितु अनुभूत वर्तमान के साथ-साथ भोगे हुए अतीत तथा सम्मूर्छा की स्थिति में स्वप्न आदि के रूप में देखे गये अनागत का भी कलात्मक रचाव दृष्टिगोचर होता है। 'रेणु' की कहानियों में बिखरे ये विभिन्न प्रसंग और विवरण उनके प्रभाव में कोई बाधा नहीं डालते। बल्कि ये उसे और भी संश्लिष्ट और तीव्र बनाते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि 'रेणु' की बाद की कहानियों में, विशेषकर **अगिनखोर** संग्रह की कहानियों में, इस तरह की कोई जटिल संरचना नहीं मिलती है। ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपनी कथा-भूमि से कट जाने के कारण न केवल

उन्हें वर्ण्य-विषय का टोटा पड़ा था, बल्कि उनकी शिल्प-चेतना भी कुछ मंद पड़ गयी थी। **अगिनखोर** की अधिकांश कहानियां रचनात्मक दबाव की अपेक्षा किसी व्यावसायिक मांग को पूरा करने के लिये लिखी गयी लगती हैं। 'रसप्रिया', 'तीसरी क़सम', 'लाल पान की बेगम', 'एक आदिम रात्रि की महक' के रचनाकार की लेखनी से निःसृत 'काक् चरित', 'जड़ाऊ मुखड़ा', 'जैव', 'अक्ल और भैंस' जैसी चुस्त-दुरुस्त, सीधी रेखा में चलने वाली 'शास्त्रीय' तथा एकायामी कहानियां पढ़कर आश्चर्य ही नहीं, दुःख भी होता है।

मध्य नाद'''सहायक नाद

'रेणु' के कथा-शिल्प को उनकी कहानी **तीन बिंदियां** के आलोक में भली-भांति समझा जा सकता है। 'तीन बिंदियां' ठुमरी गायिका गीताली की कहानी है। गीताली की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि उसने अपनी बड़ी बहिन विशुद्ध (?) ठुमरी गायिका गीताली की गलतियों से लाभ उठाया है, बहुत कुछ सीखा है। इस सफलता का रहस्य, अर्थात् गीताली की गलतियों से मिलने वाली शिक्षा का मूलमन्त्र है—सहायक नाद की महिमा। कहानी में गीताली के सहायक नाद की व्याख्या कुछ इस प्रकार की गई है— "'''सहायक नाद ! जिसको ओवरटोन कहते हैं। नाद कभी अकेला उत्पन्न नहीं होता। उसके साथ साथ अन्य नादों का भी जन्म होता है। उस स्वर को हम सुन पाएं अथवा नहीं, मूल नाद से उत्पन्न होने वाले इन नादों को सहायक नाद कहा जाता है। स्वयं ही जन्म लेने के कारण इन्हें स्वयंभू स्वर भी कहते हैं। गीताली ने इन्हीं स्वरों की सहायता से सिद्धि और प्रसिद्धि प्राप्त की है; प्रार्थना के सुर में हरदम बजती हुई जिन्दगी के सुर ताल की सीमा से कभी बाहर नहीं गई। सीमा को विस्तृत अवश्य किया उसने।"

गीताली की तरह 'रेणु' ने भी इन सहायक नादों की महिमा को पहचाना था। उन्हें यह शास्त्रीय सिद्धान्त मान्य नहीं था कि कहानी जीवन के किसी एक पक्ष की ही झांकी प्रस्तुत करती है। वे जानते थे कि जीवन का कोई भी पक्ष जीवन के अन्य पक्षों से निरपेक्ष नहीं होता है। कोई भी प्रसंग अपने में पूर्ण स्वतन्त्र, अथवा अन्य प्रसंगों से असम्पृक्त नहीं होता है। जीवन के सभी प्रसंग एक दूसरे के पूरक होते हैं। अतः उन्होंने कहानी लेखन में उसी पद्धति का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग उनकी कथा-नायिका गीताली अपनी संगीत-साधना से करती थी। 'तीन बिंदियां' में इस पद्धति के विषय में रेणु का कहता है—"इस जिन्दगी के कुछ अंश को काट लेती है, गीताली, टुकड़े-टुकड़े करती है, मसल डालती है। फिर, चूर्ण-विचूर्ण क्षणों की सुर-कणिकाओं को सहायक नाद की सहायता से परखती है। डॉट-डॉट-डॉट ('''). गीताली इन नन्हीं-नन्हीं तीन बिंदियों को, आंखों के सामने शून्य में उभरने वाली छोटी छोटी तारिकाओं को, अब अच्छी निगाह से देखती हैं; पहचानती है इस शुभ चिह्न को!'''"

रेणु अपनी कहानियों में असम्पृक्तता का आभास देने वाले प्रसंगों, संवेदों, अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों को डॉट-डॉट-डॉट ('''), अर्थात् इन्हीं तीन बिंदियों से परस्पर जोड़ते हैं। उन्हें यह अहसास था कि "साधारण पाठक अधिकांश ऐसी बिंदी-बूटेदार रचनाओं को भली

नज़र से नहीं देखते। सारी किताब में, पृष्ठ और पंक्ति में यत्रतत्र सरसों के दाने की तरह बिखरी हुई बिंदियों के बाहुल्य से पाठकों की आंखें किरकिराने लगती हैं।"[1] परन्तु गीताली जो 'तीन बिंदियां' कहानी की मुख्य-पात्र ही नहीं, रेणु की मुख-पात्र भी है, इन बिंदियों का रहस्य और इनकी शक्ति भली-भांति पहचानती है— "तीन बिंदियों के सहारे अप्रासंगिक प्रसंगों और असंलग्न मुहूर्तों को रूपायित करने वाले, किसी अन्य जगत की हल्की छवि दिखाने वाले, प्याज़ के छिलके उतारने वाले, ऐसी किसी शब्द शिल्पी से कभी भेंट हो तो गीताली कहेगी—मानो या न मानो ; हैं ये सहायक नाद के चिह्न। पूछेगी, इस ओवरटोन या सहायक नाद की सृष्टि स्वयं ही नहीं होती क्या। मन की अनगिन खिड़कियों से झांकने वाले चेहरे खुद नहीं बोलते क्या ? ···बात बोलेगी, मैं नहीं। राज़ खोलेगी बात ही। ···किसी शिल्पी का जवाब गीताली के मन-बन में कौन पाखी रट रहा है ! ···"[2]

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, रेणु की कहानियों में इन सहायक नादों का महत्त्व मुख्य नाद से कम नहीं है। **तीर्थोदक** कहानी में मुख्य नाद है लल्लू की मां का पति और पुत्रों से कोई प्रोत्साहन न पाने के बावजूद भी तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़ना। इस मुख्य नाद के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले सहायक नाद हैं—लल्लू की मां की मोतिया की मां के प्रति उमड़ी आत्मीयता ; बड़े बेटे शंकर का (लल्लू की मां के अनुसार) अपनी बीवी को डॉक्टर से जांच कराने के बहाने 'अटना पटना, इल्ली दिल्ली' दिखला लाना ; मंझले बेटे विष्णु का (लल्लू के पिता के अनुसार) अपनी बहिन को साथ लाने में लाज अनुभव करना और कालेज से नागा करके धैया की साली को मुंगेर से जमालपुर पहुंचाना ; रेलगाड़ी में घूटरसाह की बूढ़ी का लोटा खो जाना और फलस्वरूप साह और सहुआइन में 'डण्डी लड़ाई' चलना और तब कुछ समय बाद खंखड़ ओझा का कान पर से जनेऊ उतारते हुए लोटा लेकर टट्टी से निकलना ; शशिकान्त की पत्नी की व्यथा-कथा, उसका अघोरी बाबा के पास जाना और वहां से लौट कर डोमन की मां के साथ झगड़ना ; बिना मां की बेटी अन्नपूर्णा का यात्रियों की सेवा करना आदि उपाख्यान और इनसे जुड़े बहुत सारे प्रसंग। इसी प्रकार **कस्बे की लड़की** में सरोज के देहात से हज़ारी बाग शहर आकर प्रियव्रत के साथ घूमने के मुख्य नाद के साथ साथ बीसियों सहायक नाद भी कहानी के पृष्ठों पर उभरते हैं जिनमें से कुछ हैं – प्रियव्रत की भतीजी दूंदी की हरकतें ; प्रियव्रत की भाभी की आध दर्जन बहनों का उनके यहां खाली हाथ आना और खाने-पीने में नखरे करना ; भाभी का सरोज पर झूठी तोहमत लगाना पर सोने की सिकरी का भाभी के बक्से से ही निकलना ; राम निहोरा प्रसाद का बिना कारण सरोज की पीठ पर मुक्के मारना ; राम भाई (जिसका नाम सरोज श्रद्धा से बार-बार लेती है) और उनका आकर्षक व्यक्तित्व के अभाव में असफल जीवन ; 'रिक्शे वाले या मुखर्जी परिवार की सुन्दरियों का सरोज की सांवली-स्थूल-काया को लक्ष्य करके हंसना ; प्रियव्रत का खेल खेल में 'लाजवन्ती

१. ठुमरी, राजकमल, १९७७, पृष्ठ १५९
२. वही

लता' को छड़ी की मार से सुला देना तथा ऐसे ही अनेकानेक प्रसग। ये सहायक नाद रेणु की कहानियों की मुख्य-कथा के अस्थिपंजर में रक्त-मांस ही नहीं भरते, उसमें प्राणों का भी संचार करते हैं। रेणु समग्र कथा-स्थिति को किन्हीं पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के विश्लेषण द्वारा नहीं, अपितु रोज़मर्रा के परिचित पात्रों और जीवन की सामान्य स्थितियों के सहारे उभारते हैं। जैसा कि नॉक्स सी० हिल की मान्यता है, इस प्रकार की लेखन पद्धति कृति की पठनीयता ही नहीं, उसकी नाटकीयता भी बढ़ाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपरी तौर पर दीखने वाले ढीलेपन के बावजूद 'रेणु' की कहानियों में यह नाटकीयता और कसाव पर्याप्त मात्रा में है। दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये 'अप्रासंगिक' व्यक्ति-प्रसंग कहानी के पात्रों को उनके परिवेश से जोड़ते हैं जिस कारण रेणु की कहानियां, किन्हीं व्यक्तियों की नहीं, एक समष्टि की कहानियां बनकर हमारे सामने आती हैं।

———

कविता

अभयदान

—सुभाष भारद्वाज

सुनते हो !
लोग तुम्हारे बारे में
क्या कहते हैं ?"

"भला क्या ?"

"वे कहते हैं—
तुम्हारी जुबान
बहुत लम्बी हो गई है।
इतनी लम्बी
कि लाख पकड़ने पर भी
पकड़ में नहीं आती
लाख मापने पर भी
मापी नहीं जाती।"

"हां दोस्त !
मैंने भी सुना है
मेरे बारे में लोग
यही कहते हैं।
और उनका यह कहना
सत्य भी है
अक्षरशः सत्य।

लेकिन इस सत्य के साथ
थोड़ा सा
यह सच भी जोड़ना चाहूँगा
(जो शायद मुझे लम्बी जुबान वाला
कहने वालों को
नहीं मालूम)
कि अपनी ज़ुबान को
इस बेपनाह दराज़ी के लिये
उतना मुजरिम
मैं स्वयं नहीं हूं
जितने कि ये लोग
जो मेरी ज़ुबान के पीछे
हाथ धो कर पड़े रहते हैं
इसकी तांक-झांक
इसकी पकड़-धकड़ के लिये
जब देखो, जहां देखो
इसके रास्ते में खड़े रहते हैं
इसे खामोश रखने के लिये
अपने अपने हाथों में
तरह तरह के साइलेंसर पकड़े
हमेशा

इसके सन्मुख
अड़े रहते हैं।
और इस छीना-झपटी से
बचते-बचाते
अब हालत यह हो गई है
कि यह मेरी अपनी ही जुबान
मेरी अपनी ही पकड़ से
बाहिर हो गई है।"

"लेकिन मित्र
आश्चर्य सिर्फ एक बात का है ?"
"वह क्या ?"
वह यह, कि
इसकी लम्बाई से
लोग भला क्यों डरते हैं
यह लम्बी ज़रूर है
मगर सिर्फ लम्बी ही तो है
लेकिन न तो यमराज के हाथों जैसी
और न ही शैतान की आंत जैसी
अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र की तरह
दूर दूर तक
मार करने वाली भी नहीं।

मेरे विचार में
शायद वे
इस तथ्य को नहीं जानते
कि ज़ुबान
तब लम्बी होती है
जब दिमाग बेकार हो जाता है
यह तब बेतहाशा बढ़ती है
जब दोनों हाथ सिकुड़ कर
कंधों के भीतर धंस जाते हैं
जब आंख, कान और पैर
अपना अपना काम छोड़ देते हैं।

और मित्र, सच कहना
इस हालत में
इसकी लम्बाई से
डरने वाले
बहुत बड़े मूर्ख नहीं
तो और क्या हैं ?"

——

कहानी

कानून

—अब्दुल बिस्मिल्लाह

—कानूनन उसका कोई अधिकार नहीं है किसी चीज़ पर।

अपने जेठ जी की यह बात सुनकर इच्छा स्तब्ध रह गयी। पलंग से उठकर वह खड़ी हो गयी और कमरे में चहलकदमी करने लगी। रह-रह कर उसके कानों में वही स्वर घुमड़ने लगा। 'कानूनन उसका कोई अधिकार नहीं है किसी चीज़ पर।' इच्छा ने जैसे बार-बार यही वाक्य सुना और उसका शरीर झनझनाने लगा। वह पुन: पलंग पर बैठ गयी और अनायास ही उसकी आंखें नम हो गयीं। वह दीवार पर टंगे सतीश के चित्र से उलझ गयी।

लेकिन सतीश का इसमें क्या दोष है? इच्छा ने अपने मन से पूछा और कांप उठी। सतीश ने तो जीवन को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से ही वह सलाह दी थी। उनके विवाह को अभी छ: महीने भी नहीं हुए थे कि उन्हें अलग रहने के लिए मजबूर कर दिया गया था। सतीश तब दौड़े-दौड़े ससुराल पहुंचे थे, लेकिन वहां से भी निराश होकर लौटे थे। पिता जी तो चाहते थे कि कुछ रुपया लगाकर कोई बिज़नेस करा दें, पर भाइयों की राय नहीं हुई। छोटे भाई ने तो साफ कह दिया था, 'अभी शादी में इतना दिया गया है, क्या फिर देना ज़रूरी है? जब इन्हीं को हम सब कुछ दे देंगे तो हम क्या करेंगे? हम भी पांच भाई हैं, हमें भी कुछ चाहिए या नहीं? अब हम एक पैसा भी नहीं खर्च कर सकते।'

और पिता जी खामोश हो गये थे। उनके बूढ़े शरीर को हालांकि अपने ही पुत्र के इस जवाब से काफी धक्का पहुंचा था, पर वे तो पुत्रों के ही अधीन थे। उनकी मर्ज़ी के खिलाफ वे क्या कर सकते थे। और वे बेटी के लिए कुछ नहीं कर सके थे। दबी ज़बान से उन्होंने इतना भर कहा था कि आखिर तकलीफ तो इच्छा को भी है...तो ज्ञान ने अपना स्वर तेज़ कर दिया था, 'और भी तो बहनें हैं, या सिर्फ उन्हीं के नाम सब लिख दीजिएगा।' और वे खामोश हो गये थे। वे जानते थे कि ज्ञान के दोस्त से विवाह न करने के कारण ही वह इच्छा के प्रति

क्रूर हो गया है। सतीश ने भी सारी परिस्थितियां समझ ली थीं और अपमानित होकर लौट आये थे।

यहां, मां ने उनका पक्ष लेना चाहा तो भाइयों ने उन्हें दबोच लिया। 'हम लोग कमाकर लायें और ये मियां-बीबी बैठकर खायें। हमसे यह सब नहीं चलेगा। पढ़ा दिया, लिखा दिया, शादी कर दी, ब्याह कर दिया। अब कमायें और खायें।'

—लेकिन नौकरी कोई दाल-भात का कौर तो है नहीं कि तुरन्त मिल ही जायेगी।

मां ने सतीश को संभालने की कोशिश की तो बातें और बढ़ गयीं। लोगों ने ससुराल से उनके अपमानित होकर लौटने पर भी व्यंग्य कसे और सतीश ने निर्णय लिया कि वे अब किसी पर आश्रित होकर नहीं रहेंगे। अपना जुआ वे अपने कंधों पर ढोएंगे।

और अगले ही दिन से नौकरी की खोज जारी हो गयी थी। इस दफ्तर से उस दफ्तर। इस फैक्ट्री से उस फैक्ट्री। इस कम्पनी से उस कम्पनी। और अन्ततः उन्हें नौकरी मिल भी गयी। लेकिन नौकरी वह नाम की ही थी। तनख्वाह का काफी बड़ा हिस्सा कम्पलसरी और इंश्योरेंस और विभिन्न प्रकारों के फण्डों में ही कट जाता था। एक छोटी सी रकम उन्हें मिलती थी जिसमें दो जून के खाने का जुगाड़ बैठाना भी मुश्किल लगता था। इच्छा कभी रोटियां भर पका लेती और बाज़ार से दस-बीस पैसे की घुघनी लाकर उसी से वे खा लेते और कभी वे बिना तेल-साबुन का इस्तेमाल किये हफ्तों बिता लेते।

इस प्रकार वे एक ऐसी ज़िन्दगी जीने के लिए मजबूर हो गये थे जिसमें धुआं ही धुआं था। सांस लेने के लिए थोड़ी सी भी खुली हवा कहीं से नहीं मिलती थी।

और तभी अंशू भी आ गया था। एक बोझ के रूप में। जिस दिन वह पैदा हुआ, सतीश दिन भर गुमसुम बने रहे और रात भर उन्हें नींद नहीं आयी। पड़ोस की स्त्रियां खुश हो रही थीं, अम्मां लहक लहक कर सोहर गा रही थीं, लेकिन वे बात बात पर खीझ रहे थे। दरअसल वे हिसाब नहीं लगा पा रहे थे कि एक तीसरे सदस्य को वे लोग कैसे एडजस्ट करेंगे।

और सचमुच वे लोग परेशान हो गये थे। खर्चे बढ़ गये थे कौर आमदनी वहीं की वहीं थी। थोड़ी बहुत 'महंगाई' कभी बढ़ती भी तो बाज़ार में बढ़ी हुई महंगी से वह कई गुना कम होती। वेतन-व्यवस्था के इस विधान से क्षुब्ध होकर सतीश कभी-कभी बौखला उठते थे और बौखलाहट में वे एक लम्बी तक़रीर बोल जाते थे। उसी मूड में उन्होंने इच्छा को भी एक बार खरी-खोटी सुनायी थी।

—स्त्री-शिक्षा का आखिर मतलब क्या होता है? स्त्रियां जब आर्थिक रूप से अपने पतियों की मदद न कर सकें तो उनके शिक्षित होने से लाभ क्या है?

वह समझ गयी थी। सतीश का यह भाषण उसी से सम्बंधित था। लेकिन इच्छा कुछ नहीं बोली थी। वह इस इंतज़ार में थी कि कोई मौका आये तो बातें की जायें।

लेकिन उन्हीं दिनों अंशू बीमार पड़ गया और एक हफ्ते बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी।

महीनों इच्छा विक्षिप्त बनी रही और उसको बार-बार लगता रहा कि अंशू की मौत के ज़िम्मेदार वही लोग हैं।

और इच्छा ने सतीश के सामने अपनी वह मंशा ज़ाहिर कर दी थी, जिसे वह यह सोच कर दबाती रही थी कि सतीश कहीं अपनी बातों की प्रतिक्रिया न समझ लें।

—कहीं कोशिश कीजिए तो मैं भी कोई नौकरी कर लूं।

सतीश ने सुन लिया था और सुनकर खामोश रहे थे। शायद वे समझ गये थे कि य उनके भाषण की प्रतिक्रिया है। लेकिन अगले दिन से ही उन्होंने नौकरी की तलाश शुरू क दी थी। फिर वही, इस दफ्तर से उस दफ्तर, इस कम्पनी से उस कम्पनी···लेकिन इस बा वे विफल रहे थे। यहां की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ ऐसे भी विषय हैं जिन्हें पढ़कर आदमी कु नहीं बन सकता, सिवा स्कूल-टीचर के। और उसके लिए भी प्रशिक्षित होना अनिवार्य है।

—तुम ट्रेनिंग कर लो तो कुछ हो सकता है।

थक-हार कर सतीश ने सलाह दी थी तो इच्छा तैयार हो गयी थी। और फिर शु हुआ था एडमीशन का चक्कर। लेकिन आर्ट्स के विद्यार्थी भला मेरिट में कहां आ पाते हैं ऐसी स्थिति में लड़के तो खेलकूद का सर्टिफिकेट देकर कुछ अतिरिक्त अंक प्राप्त कर लेते है पर लड़कियां क्या करें?

—अगर तुम तलाकशुदा होती तो कुछ काम बन सकता था।

सतीश ने एक शाम हंसते हुए उससे कहा था तो वह बिगड़ उठी थी।

—ऐसी ट्रेनिंग जाये चूल्हे में। आप कहीं छोटी-मोटी नौकरी ही ढूंढ दीजिए न।

—नौकरी क्या तुम्हारे बाप के घर में रखी है कि तुरन्त मिल जाएगी। तुम लोगों के विषय भी तो अजीबोगरीब रहते हैं। अब भला बताओ शिक्षा-शास्त्र और गृहविज्ञान पढ़क कोई क्या बन सकता है?

—लेकिन इसमें मेरा क्या दोष है? यह तो···

—अच्छा चुप रहो। दोष तुम्हारा हो, चाहे तुम्हारे बाप का हो, और चाहे व्यवस्था क हो, किसी का तो है न।

और वह वह उठी थी। तर तर आंसू गिर रहे थे उसकी आंखों से। और सतीश कम में टहल रहे थे।

—लेकिन इसमें हर्ज क्या है? कोई मैं सचमुच का तलाक तो दूंगा नहीं। बस ए फार्मेल्टी हो जाएगी और क्या! अगर इतने से तुम्हारा एडमीशन हो जाता है तो इसमें क्य बुराई है?

—क्या इसके बाद भी हम साथ-साथ रह सकेंगे? इच्छा ने रोते हुए पूछा था तो सती उसके करीब आकर खड़े हो गये थे।

—क्यों नहीं ! अरे, तुम रोती क्यों हो ? देखो भाई, तुम्हारी मर्ज़ी नहीं है तो मुझे कोई एतराज़ नहीं है, लेकिन घर की परिस्थितियों से तुम अपरिचित नहीं हो। वह तो समझो नया कानून बन गया है कि तलाकशुदा लड़कियों को कुछ प्रतिशत की छूट मिल रही है, वरना यह भी न हो पाता…बोलो, क्या सोचा ?

और वह तैयार हो गयी थी। अगले दिन से तलाक की तैयारियां शुरू हो गयी थीं।

●

लेकिन तलाक के एहसास मात्र ने इच्छा को बुरी तरह हिला दिया था। तलाक की प्रक्रिया पूरी करने के बाद ही वह फूट पड़ी थी। सतीश उसे समझा रहे थे, तरह-तरह की बातों से ढाढ़स बंधा रहे थे, पर आंसू थे कि उसकी आंखों के पीछे पड़ गये थे। इच्छा ने सतीश को भींच लिया था।

"बोलो, धोखा तो नहीं दोगे न ? हम इसके बाद भी साथ साथ ही रहेंगे न ? सच बताओ, छोड़ोगे तो नहीं न ?"

और सतीश की आंखें भी नम हो गयी थीं। उस रोज़ उन्होंने खाना नहीं खाया था।

इस प्रकार, एक फर्ज़ी कार्यवाही के उपरान्त इच्छा का एडमीशन ट्रेनिंग कालेज में हो गया था, पर सतीश का मूड आफ हो गया था। अब किसी काम में उनका मन नहीं लगता था और वे हमेशा उदास बने रहते थे। इच्छा कालेज से लौट कर सतीश को प्रसन्न करने के अनेक उपाय करती, पर कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता था। यहां तक कि कभी-कभी इच्छा झुंझला भी उठती थी। दिन भर वह कालेज में माथापच्ची करती, रात में देर तक जागकर लेख-प्लान तैयार करती और साथ-साथ पति की सेवा में भी संलग्न रहती, पर कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता।

और दिन-ब-दिन इच्छा शिथिल होती चली गयी। घर में एक अन्तहीन उदास विषैली हवा की भांति भर उठी…कानून के लुभावने, पर कांटेदार छत्र के नीचे पहुंच कर वे लहूलुहान हो गये थे।

तभी वह बात हो गयी। सतीश का एक्सीडेण्ट ! इच्छा को कालेज में ही यह समाचार मिला था और वह बेहोश हो गयी थी। लड़कियों ने उसे घेर लिया था।

—अरे, यह भी कोई बात हुई ! जिस आदमी ने तुम्हें तलाक दे दिया, उसके लिये इतनी मुहब्बत !

होश आने पर एक सहेली ने फबती कसी तो वह चुप रही। किसी को उनके तलाक का रहस्य नहीं मालूम था और न वह चाहती थी कि मालूम हो। वह चुपचाप घर लौट आयी थी।

•

और उसके देखते ही देखते सतीश का सारा फण्ड उसके भाइयों ने वसूल लिया था। इच्छा जहां भी जाती, उसे बस एक ही जवाब मिलता, 'क्षमा कीजिएगा बहन जी, कानूनन आप सतीश की पत्नी नहीं हैं, इसलिए आपका इस धन पर कोई अधिकार नहीं है।' और इच्छा थकी-हारी वापस आ जाती। उसके सारे प्रयत्न विफल रहे।

तब उसने अम्मां से प्रार्थना की कि आने वाले बच्चे के लिये तो वे थोड़ी सी कृपा कर दें।

और उन्होंने आश्वासन दिया कि इस बारे में वे आज ही लड़कों से बात करेंगी।

लेकिन यह क्या ? 'कानूनन उसका कोई अधिकार नहीं है किसी चीज़ पर।'

इच्छा को पसीना आ गया। आंखें धुंधली हो गयीं। वह खड़ी हो गयी। उसके कानों ने सुना, बहस अभी तक जारी थी।

—तुम कैसे कहते हो, उसका कोई अधिकार नहीं है। किसी चीज़ पर ? तुम्हें मालूम है न कि तलाक की वह कार्रवाई नकली थी। और तुम्हें यह पता है न कि उसके पेट में सतीश की दूसरी सन्तान पल रही है। और तुम यह भी जानते हो न कि सतीश का जहां अपमान हुआ है, उस मायके में वह नहीं जाएगी···किसी का हक मार कर क्यों पाप लेते हो ?

अम्मां ने प्रकाश भाई को समझाने की चेष्टा की तो वे बिगड़ उठे।

—तू चुप रह बुढ़िया, ज्यादा बक-बक मत कर। इस घर का मालिक मैं हूँ और मैं जो चाहूंगा सो करूंगा। मुझे मालूम है कि सतीश ने उसे तलाक दे दिया था और कानूनन अब वह सतीश की पत्नी नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि उसके पेट में किसका बच्चा है और न मैं इस बारे में किसी प्रकार की बहस करना चाहता हूं।

इच्छा को चक्कर आ गया। उसने अपने कानों में उंगलियां ठूंस लीं और ज़मीन पर धम से बैठ गयी।

देर तक वह उसी प्रकार बैठी रही, फिर उठी और कमरे से निकल आयी। थोड़ी देर तक दहलीज़ पर वह रुकी रही, फिर घूमकर उसने दीवार पर टंगे सतीश के चित्र को देखा और चल पड़ी।

सामने अम्मां खड़ी थीं, किसी सूखे हुए ठूंठ की तरह !

—अम्मां मैं जा रही हूं !

इच्छा ने उनके चरण छूते हुए कहा और आगे बढ़ गयी। अम्मां मूर्तिवत् खड़ी रहीं और देखती रहीं—इच्छा सड़क के उस टुकड़े पर बढ़ी जा रही थी, जिस पर पैदल चलने के विरुद्ध अभी तक कोई कानून नहीं बना था।

———

तीन लघु कविताएं

—सत्यानन्द जाबा

एक

मैं तो 'मैं' को मन में रखे
सब लोगों से बिछुड़ गया हूँ ;
तुमने अपना 'तुम' बिखरा कर
लोगों का मन जीत लिया है।

दो

मुंह ने चाहे झूठ ही बोला
आंखों ने सच बोल दिया है ··
मैं क्या बोलूं ?

तीन

मेरे घर के आंगन में
सुन्दर एक गुलाब खिला
डनलप के गद्दे पर लेटे
खिड़की से मैंने देखा
कांटों के बिस्तर पर उसका
कोमल कोमल बदन धरा था ·· ।

———

आकलन

लाल की कहानियां : एक गंभीर सर्जनात्मक कर्म

— डॉ० नरेन्द्र मोहन

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी कहानी का विश्लेषण-मूल्यांकन दशकों के आधार पर हुआ है या 'नयी कहानी', 'अकहानी', 'सचेतन कहानी' और 'समकालीन कहानी' आदि रचनात्मक प्रवृत्तियों या आन्दोलनों के आधार पर। कई बार विचारों या विचार-धाराओं (व्यक्तिवाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद) के आधार पर भी कहानी को समझने-पड़तालने का प्रयास हुआ है। कहानी की बदलती हुई प्रवृत्तियों को पहचानने, रेखांकित करने में ये आधार सहायक रहे हैं, पर कई बार इनसे भ्रामक स्थितियां भी पैदा हुई हैं। किसी दशक विशेष का अतिक्रमण करने वाली कहानियों का मूल्यांकन 'दशक' के आधार पर कैसे किया जा सकता है? यह एक रोचक तथ्य है कि दशक की सामूहिक चेतना को उथले रूप में ढोने वाले औसत कहानीकार खासतौर पर चर्चित हो गए और उससे मेल न खाने वाले कई प्रतिभाशाली कहानीकार कम चर्चित हुए या अचर्चित रह गए। यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो सकता है कि 'नयी कहानी', 'अकहानी', 'सचेतन कहानी' और 'समानान्तर' कहानी के कहानीकार कैसे एक दूसरे के खेमों में घुसते रहे और बाहर आते रहे और इस तरह समकालीन कहानी की पहचान को बनाने के बजाय उसे धुंधलाते रहे।

हिन्दी कहानी में बदलाव के स्पष्ट संकेत प्रेमचंद से मिलने लग जाते हैं। प्रेमचंद की 'कफन' और 'पूस की रात' कहानियों में जिस क्रूर और कठोर सामाजिक स्थिति का चित्रण हुआ है, वह निस्सदेह तिलमिला देने वाला है। प्रेमचंद की ये कहानियां मानवीय यथार्थ और विडम्बना का एहसास ही नहीं उपजातीं, रूढ़ नैतिक-बोध से निर्मित पाठकीय प्रत्याशाओं को भी खंडित करने वाली हैं। गौर करने की बात है कि इन कहानियों का ढांचा चरित्र-निर्भर न हो करके स्थिति-निर्भर है। ये चरित्र से स्थिति की ओर संक्रमण की कहानियां हैं। प्रेमचंद की इन कहानियों ने यथार्थपरक सामाजिक कहानी के प्रारम्भ और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। 'नयी कहानी' की अन्तर्वस्तु और रचना-विधान पर इसका गहरा प्रभाव

पड़ा है। इस तरह की कहानी में धारणा या सिद्धान्त विशेष की अपेक्षा अनुभूत सत्य या भोगे हुए यथार्थ को ग्रहण करने पर बल दिया गया और अनुभव की प्रामाणिकता की पैरवी की गयी। 'नयी कहानी' में मनुष्य का अपने परिवेश से एक नया रिश्ता कायम करने का प्रयास हुआ और इस रिश्ते के भिन्न-भिन्न पहलुओं और रूपों को इस कहानी में उजागर किया गया। 'नयी कहानी' में 'प्लाट' और चरित्र की जकड़बन्दी काफी हद तक ढीली हुई। इसी बीच आंचलिकता की एक विशेष प्रवृत्ति बड़ी तीव्रता से उभरी। यह प्रवृति अपने निकट के परिवेश से, उसके भूगोल, जीवन और संस्कृति से जुड़ने, उसे पहचानने और आत्मसात करने के अभिप्राय से प्रेरित थी। किसी अंचल विशेष को घटना, स्थिति या चरित्र के बजाय कहानी में प्रतिष्ठित करने का यह प्रयत्न नितान्त नया था। इससे कहानी के रचना-विधान में तो परिवर्तन हुए ही, कहानी के प्रतिमानों के लिए भी यह एक चुनौती बना। नयी कहानी के दौरान उठे इस नये रचनात्मक उन्मेष में लक्ष्मी नारायण लाल का विशेष हाथ रहा।

लक्ष्मी नारायण लाल की प्रारंभिक कहानियों में आंचलिकता का टटकापन है; भाषा, मुहावरा, लहजा ठेठ देहाती है। इनमें ग्रामीण चरित्रों, धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों और स्थितियों का प्रामाणिक चरित्र-चित्रण और निरूपण हुआ जिस से लाल की कहानियों की एक अलग पहचान बनती दिखी। इसमें सन्देह नहीं कि गांव के प्रति लक्ष्मी नारायण लाल की रागात्मक संपृक्ति है। लगता है गांव उनके मन में, प्राण में समाया हुआ है। यह लाल की कहानियों की मूल रचना-भूमि है। यहीं से वे ग्रामीण जीवन के उलझे हुए वैयक्तिक और पारिवारिक सम्बंध सूत्रों को तानते प्रतीत होते हैं। लाल की कहानियों में गांव के सांस्कृतिक हाशिये का नहीं, सांस्कृतिक धड़कन का पता चलता है। कथात्मकता और चरित्र-चित्रण के मोह के बावजूद उनकी कहानियां यथार्थ को सामान्यीकृत और सरल होने से बचा लेती हैं। उनकी एक कहानी है **एक और कहानी**। इस कहानी में ग्रामीण परिवेश का यथार्थ चित्रण तो हुआ ही है, ग्रामीण मानसिकता से लिपटी हुई रूढ़ियों का भी विरोध किया गया है। पुरई इस बात का सक्रिय होकर विरोध करता है कि ब्राह्मण को हल नहीं जोतना चाहिए, **वह ठीक दोपहर का वक्त था। पुरई ने बैलों की जोड़ी बांधी। हल को कंधे पर रखकर नूरचक गांव को चीरता हुआ वह अपने खेत की ओर बढ़ा। पीछे-पीछे मां चली। हाथ में जल से भरा हुआ लोटा लिए अक्षत और पल्लव डला हुआ जल।** ग्रामीण रूढ़ियों और अंधविश्वासों का खंडन करने की प्रवृत्ति लाल की अन्य अनेक कहानियों में भी लक्षित की जा सकती है। उनकी कहानी **बलदाऊ** में चइत्तर बाबा की बलदाऊ (बैल) के प्रति जहां गहरी संवेदना व्यक्त हुई है वहीं ग्रामीण अंधविश्वासों का भी खंडन हुआ है। बलदाऊ के प्रति गहरी संवेदना की अभिव्यक्ति इस कहानी में जिस रूप में हुई है उससे बरबस शैलेष मटियानी की कहानी **मैमूद** याद आ जाती है। **मैमूद** कहानी में बकरे के काटे जाने की आशंका से जद्दन रोती रही। भाव विह्वलता की मनोदशा में जद्दन कहती है, **यह मैं भी जानती हूं कि मेरी तकलीफ जितनी वह बदनसीब समझता था न तुम समझोगे, न तुम्हारे बेटे।** क्रूरता और करुणा के संदर्भों का जैसा समान्तर विधान इस कहानी में है वैसा ही लाल की कहानी **बलदाऊ** में है।

चइत्तर बाबा सोचते हैं, **और जब यह गांव में रहेगा तो इसकी यही दशा होगी। कोई मेरे बलदाऊ को मार डालेगा या इसे कसाई के हाथ दे देगा।** संवेदना और तड़प की व्यंजना के साथ-साथ ग्रामीण मानस में व्याप्त अंध-विश्वासों का विरोध, इस कहानी की खासियत है।

लाल की कुछ कहानियां नगर जीवन से भी सम्बंधित हैं। जिस कहानीकार की मूल रचना-भूमि गांव हो, उसके लिए नगर जीवन से सम्बंधित कहानी लिखना ज़रा कठिन रहता है। लाल की ग्रामीण परिवेश से सम्बंधित कहानियों में जहां एक खास रागात्मक दृष्टि प्रतिफलित हुई है वहां नगर सम्बंधी कहानियों में रागात्मकता में लिपटी हुई आधुनिक दृष्टि भी। उन्होंने गांव को नगर में और नगर को गांव में दखल नहीं देने दिया है। नगर के 'इतिहासहीन, स्वप्नहीन लोग' कैसा निरर्थक जीवन जीते हैं, इसकी कचोट उनकी कहानी **नया नगर** में महसूस की जा सकती है। लड़के-लड़की के सवादों के माध्यम से महानगरीय दिशाहीनता को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है : 'सड़क पर अनायास दूर तक टहलते हुए दोनों अनुभव करते हैं कि वे खुद नगर हैं—अग्रामीन नगर।' नगर को मानवीय व्यक्तित्व प्रदान करने का यह प्रयत्न इस बात का सूचक है कि लेखक इस समस्या को गहराई से समझ रहा है। नगर की बाहरी सम्पन्नता और वाचालता कैसे नगर को आन्तरिक स्तरों पर विपन्न और निर्वाक् बना रही है—इसे लेखक ने कथात्मक ब्यौरों की सहायता से इस प्रकार संकेतित किया है, **नया नगर पुराने को छोड़ता हुआ आगे को बढ़ रहा है। और सामने की मरुभूमि उसके पास आती जा रही है। ... .. बड़े बड़े भाषण, संदेश, प्रसारित और संवेदित हो रहे हैं—पर सड़क साफ-सुथरी चुपचाप मरुभूमि की ओर बढ़ रही है।**

लाल की अधिकतर कहानियां स्थिति-निर्भर न हो करके चरित्र निर्भर हैं। उदाहरण के तौर पर **दर्पण-कथा** और **गुलबदन** कहानियां देखी जा सकती हैं। ऐसी कहानियों में कथा-रस तो है ही, पीड़ा का जश्न मनाने वाला भाव भी है। ऐसी कहानियों की वस्तु भी परिचित सी लगती है। 'गुलबदन' कोरमकोर एक सामान्य सी चारित्रिक कथा है। लाल में चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति इस कदर है कि राजनीतिक भ्रष्टता की संकेत-गर्भी कहानी **पशुमेला** भी गुरचन्ना के चारित्रिक वैचित्र्य में खो जाती है।

लाल ने जटिल तथा अन्तर्विरोधपूर्ण स्थितियों का चित्रण करने वाली कम ही कहानियां लिखी हैं। **आत्म-कथन** तथा **माघ मेला के ठाकुर** कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय मानी जा सकती हैं। **आत्म-कथन** कहानी में चरित्रों की अलग सत्ताएं एक मानसिक, मनोवैज्ञानिक स्थिति के निमित्त घुलती गयी हैं। इस कहानी में विनीता की आत्म-स्वीकृति है, **आज यह शराब मैं उसी की याद में पी रही हूं।** और विश्वनाथ की आत्म-स्वीकृति है, **मैं भी यह शराब उसी कुमुद की ही याद में पी रहा हूं।** विवाह पूर्व के प्रेम-प्रसंग विवाहोपरान्त जिन जटिल, मानसिक और मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को पैदा कर देते हैं, उन्हें यह कहानी बड़ी सहजता से उभार देती है। इस कहानी में संवादों के माध्यम से मन में दुबके हुए प्रेम-भाव और व्यवहार की अनेक परतें खुलती जाती हैं और वे दोनों पाते हैं जैसे वे अपने को और एक दूसरे को नये सिरे से

पहचान रहे हों। जटिल स्थितियों का चित्रण **माघ मेला के ठाकुर** में भी देखा जा सकता है। भिखमगों के गिरोह की वास्तविक स्थिति और उनकी आन्तरिक दुनिया को यह कहानी अनावृत तो करती ही है, साथ ही दानवीर, कुंजनी और पिशाचु की जटिल मनःस्थितियों को भी उद्घाटित करती है।

लाल की कहानियों का नाभिक केन्द्र गांव ही है। गांव को वे सहज स्वाभाविक रूप में ही चित्रित करते हैं। संघर्षपूर्ण त्रासद स्थितियों का चित्रण इन कहानियों में कम ही मिलेगा। लाल की कहानी-यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु गांव और शहर की संक्रान्त चेतना है। अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में एक स्थल पर लाल ने लिखा है: 'मैं अपनी हर रचना के साथ थोड़ा टूटता हूं और उससे अधिक पूर्ण होता हूं। और दोनों की सहानुभूति से मुझे लगता है कि मैं अपनी रचना के साथ एक ऐसे जीवन की ओर बढ़ता हूं जो मुझे अभी तक अज्ञात था।' अधूरेपन और सार्थकता का यह रचनात्मक एहसास इस बात का सूचक है कि लक्ष्मी नारायण लाल रचना-धर्म को गभीर सर्जनात्मक कर्म मानते हैं, यह बात दूसरी है कि अपने रचनागत संस्कारों और रचना-रूढ़ियों की वजह से वे इसे अपनी कहानियों में पूरी तरह से निभा पाते हैं या नहीं।

कहानी

शेष रहा प्रश्न

—उषा व्यास

मां आज फिर आधी रात को उठी थी। चुपके से जाकर उसके कबॉर्ड में टंगे पापा के कोट को सहलाया था। जेबों में दोनों हाथ डाल कर खड़े-खड़े लाइटर निकाल कर जलाया-बुझाया था, दो बार। सम्भवत: एक बार अपने लिये, एक बार उसके लिये। लाइटर की पारदर्शी लपट की मायावी रोशनी में मां का चेहरा कितना अपरिचित लगता है। अपरिचित लोगों में अपना आप भी कभी-कभी कितना निरर्थक लगता है।

सोने का वहाना ओढ़े उसे लगा था कि मां गली के शुरुआती कोने में उगा एक बेरौनक दरख्त है जिसे वह रोज़ देखती है। रोज़ देखना और चुप रहना जैसे उसकी और पेड़ की नियत्ति हो गई है।

कितनी धुंध छा गई है मां के चारों ओर। कितनी बार उसने अपने हाथों में निकटता की गर्मी भर कर इसे छितराने की कोशिश की है किन्तु हर बार क्या होता है कि एक सूरज निकलते-निकलते ही ग्रस्त हो जाता है। और उन दोनों के बीच आ जाता है एक पुरुष। जिसने कोहरे की तरह मां को चारों ओर से ढांप लिया है।

अजीब सर्द कुहरा ! कहते हैं कोहरे का कोई अस्तित्व नहीं होता किन्तु वह दूसरों के अस्तित्व को इस तरह ग्रस लेता है कि उसकी कोई छाया—कोई निशान तक दिखाई नहीं पड़ता।

भीतर से पूरी तरह जागी हुई वेणु आंखों पर बांह रखे सोने का उपक्रम करते हुए मां को कबॉर्ड का पल्ला थामे निश्चल खड़े देखती रही···कितनी···देर···उसी तरह···देखती रही।

आदमी जब अपने में—सिर्फ अपने आप तक होता है तो वह दूसरों को नहीं देखता। मां की अधमुंदी आंखें और स्मृतियों की आंच में पिघलता चेहरा कितना निरीह लगा था वेणु को। वहीं खाट पर लेटे-लेटे उसकी मुट्ठियां उस व्यक्ति के प्रति तीव्र आक्रोश से कस

गई थीं जो इस घर में अपना कोट तो छोड़ गया लेकिन···ममता की वह स्वप्निल छाया और संरक्षण का गौरव अपने साथ ही लेता गया था।

जिसे छूने के लिये उसका भोला वजूद क्रिस्टल की तरह कतरा-कतरा घुल रहा था।

एक अजीब सी तन्द्रा में खोयी मां धीरे से आकर अपने विस्तर पर औंधी लेट गई थी। किस तरह निःशब्द रोती है मां। एक बार वेणु का मन हुआ कि जाकर चुपके से उसकी पीठ पर अपना नन्हा हाथ रख दे। किन्तु उसे अपनी ही बेटी के समक्ष कैसे छोटा करे? कैसे कहे, कि तुम जो दिन में पापा के विषय में, मेरी किसी भी पूछताछ, किसी भी प्रश्न पर पथरा जाती हो, रात के अंधेरे में उसी के पुराने कोट की जेबों में दोनों हाथ डाले अतीत के किन क्षणों को तलाशती हो? असल में तुम विभक्त हो चुकी हो मां! दो में। एक तो तुम वह हो जो मेरे मन पर अंकित होना चाहती हो और दूसरी वह जो अपने सामने अपने को ही झेलने में असमर्थ अशक्त खड़ी हो। दोनों के बीच तुमने इतनी ऊंची दीवार उठा ली है कि मैं इसके आर-पार कुछ नहीं देख सकती।

मां, क्यों नहीं तुम जीवन की उस धधकती सचाई को कांच के गोले की तरह मेरे सामने फेंक देतीं। मेरे तलवे उन कांच के टुकड़ों पर चलने के लिये कब से तड़प रहे हैं।

★

बचपन में ही अपने घर के खाली कमरों को देखकर उसका मन शंकालु हो गया था। वह मां से तरह-तरह के प्रश्न पूछती।

—मां, तुमने मुझे कहां से लिया था?

—अस्पताल से।

हुं! अस्पताल से, कमाल है। मुकुल की मम्मी भी यही कहती है कि वे उसे अस्पताल से लायी थीं और दीपा की, दिगंत की मम्मी भी। वहां क्या इतने बच्चे होते हैं कि जो चाहे उठा लाये?

मां को उसकी बातों में रस आने लगता। वह कहती—जब मैं अस्पताल गई तो वहां एक टोकरे में बच्चे चूज़ों की तरह भरे पड़े थे। मैं पास से गुजरी तो तुमने मेरा हाथ थाम लिया।

—लेकिन तुमने मुझे ही क्यों उठाया, मुकुल को क्यों नहीं?

—कहा न, तुमने मेरा हाथ पकड़ लिया था। इसी लिये तुझे मैं ले आयी थी।

—पापा ने भी तो तुम्हारा हाथ पकड़ा था? फिर वे तुम्हें अपने घर क्यों नहीं ले गये?

मां, उसकी इन बातों से अनुत्तरित हो जाती, उसे लगता, मानो उसकी जिज्ञासा इसी प्रश्न का यथार्थ हो कि तुमने पापा को ही क्यों चुना? किसी दूसरे, अच्छे व्यक्ति को क्यों नहीं? जिसकी सूरत ही कभी नहीं देखी।

मां को वेणु से चिढ़ होने लगती और वह गोद में रखा उसका सिर सहलाते-सहलाते वर्फ हो जाती। वह उसे अपने से धकेल कर हटाते हुए अपने में डूब जाती।

नन्हीं वेणु-अकेलेपन की विभीषिका में सुलग-सुलग कर घर के खाली कोने टटोलने के लिए रह गई थी। वह अक्सर पड़ोस के मुकुल के पापा के जूते उठा लाती और उन्हें अपने छोटे पैरों में पहन कर देखा करती। खट-खट सीढ़ियां चढ़ने उतरने का विचित्र सुख उसके पोर-पोर में पितृ सुलभ लाड भर देता।

मुकुल को अपने पापा के साथ, लड़ते-झगड़ते, लाड करते, किसी चीज़ के लिये जिद्द करते या बाज़ार जाते देखती तो उसकी नन्हीं उंगली भी अपने पापा की मुट्ठी में दबने के लिये टीस-टीस उठती।

शाम होते-होते मां हर बार स्वस्थ हो जाती थी। खिला-पिला कर उसे दुलार कर सुला देती थी। कहानी सुनते-सुनते उसके दिमाग में विचित्र से चित्र वनते चले जाते। राजा रूठ कर घोड़े पर जा रहा है, खुले द्वार को थामे रानी विह्वल मुद्रा में खड़ी है। परित्यक्ता रानी के स्थान पर उसे मां नजर आने लगती।

जादू के दर्पण के सामने खड़ी रहने वाली रानियां क्या सभी ऐसी ही होती हैं? यह उसकी समझ से परे रहता।

मां को वचपन से ही उसने दर्द के एक दरिया की तरह अपने किनारों में बंधे चुपचाप निरन्तर बहते देखा है। कभी दर्द की बाढ़ आ जाती तो मां किसी अकेले कोने में जाकर हल्का हो जाने के बाद फिर किनारों में बंध जाती है।

मां आखिर कुछ क्यों नहीं बताती। उसे तो लगता है कि इन प्रश्नों से बचने के लिये ही उसने उसे होस्टल में भेज रखा है।

शुरू से ही मां ने उसे अपने से परे एक निश्चित दूरी पर रखा है। ताकि अंतरंगता के किन्हीं कमज़ोर क्षणों में सब कुछ उद्घाटित न हो जाए और उसकी यह विवश मौन तपस्या?

कल से वह यही सोच रही है कि···घर से तो होस्टल ही वेहतर है।

स्कूल कब खुलेगा? अभी कितनी छुट्टियां बाकी हैं···? वह उंगलियों पर गिनने लगी।

मां के कालेज चले जाने के बाद! उसके पास करने को कुछ नहीं रह जाता। खाली उदास कमरों में पांव-डांव चक्कर काटते रहकर कुछ अदृश्य तलाशते रहने के सिवाय और कुछ नहीं।

नहीं, अब वह घर में नहीं रह सकेगी···बाकी छुट्टियां वह होस्टल में मेट्रन के पास रहकर गुजारेगी···

उसने देखा, मां सो गई थी···वह चुपचाप उठी और अपने कमरे में जाकर खड़ी हो गई।

रस्सी पर झूलते तौलिया, स्कर्ट, रिवॅन, मौजे, दो नई चुन्नियां, मफलर, खूंटी पर टंगा सफेद ब्राऊन धारियों वाला कार्डिगन। तख्तपोश के नीचे, सफेद फरदार जूते, मेज़ पर पड़ी

थरमॉस, अलमारी में पड़े कंघा, ब्रुश, किताबें, हनुमान चालीसा, फूलों वाला जूट वैग, पिकनिक बॉक्स···

बिना आवाज किये सहमे-सहमे सब समेटते हुए उसके गले में भाप भर गई थी।

★

कमरे में अंधेरा था···अगरबत्ती की तरह सुलग-सुलग कर धुखता अंधेरा।

अंधेरे में साथ वाली खाट पर सो रही वेणु उसे जागती महसूस होती। लगता, अभी वह करवट लेकर जागेगी और···कुछ पूछ बैठेगी···उसके मन प्राण सिल होने को हो आते।

दीवार की पिछली तरफ वाली खुली खिड़की में से दिखाई देते पेड़ की डालें अब भी कांप रही थीं। इस बूढ़े पेड़ को वह शुरू से ही देखती आयी है। कहते हैं इस नंगे पेड़ के क़ोटर में सांप रहता है। जब-तब फण पटक-पटक कर वह इसे डसता रहता है। आर-पार होती हवा से उसकी डालों में जैसे सुराख ही सुराख हुए जाते हैं।

उसे भी लगता कि पेड़ की तरह उसके जीवन के कोटर में भी एक अज्ञात से शून्य का कुंडली मार अजगर बैठा उसे डसे जा रहा है। कांपते पेड़ को देखकर लेटे-लेटे वह सिहर रही थी।

कस कर मुंदी पलकों से जैसे पिघला मोम रिसता चला जा रहा था।

★

यह वही घर था। रुक रुक कर सांस लेता घर। जहां से वह सालों पहले दूसरी लड़कियों की तरह कभी-कभी मायके में आकर मां से, भाई से मिल जाने के लिये गई थी। यह वही घर था जहां शादी के कुछ दिन बाद ही वह फिर से लौट आयी थी···हमेशा वहीं ···मूक वृद्धा मां की छाती पर नासूर बने रहने और भाई की बेबस निर्मोहता और वितृष्णा जीने के लिये शापित।

वे दोनों एक ही शहर में थे, दोनों ने किसी अवरोध की परवाह किए बगैर विवाह कर लिया था। अपने वैभवशाली पिता के विरोध के बावजूद वसंत ने उसे अपने दायरे में बांध लिया था। वह दृश्य आज भी ज्यों का त्यों उसके सामने है जब वह पहली बार अपनी मां का आशीर्वाद पाने वसंत को अपने साथ घर लायी थी।

उन्हें भीतर आया देख बीमारी में खांसती मूक मां कथरी सी रजाई को सरकाती अपने में गुड़मुड़ होती सी किसी तरह उठ कर बैठ गई थी।

"हमें आशीर्वाद दो मां, वसंत मुझे अपने साथ घर ले जाने आए हैं।" उसने मां के पास बैठे हुए थरथराता उभरी नसों वाला हाथ अपने हाथ में लेकर आश्वस्त करते हुए कहा था। और उत्तर में वह वृद्धा फटी सी क्षीण दृष्टि से ताकती रह गई थी—उसकी सफेद पलकों के नीचे धीरे बहुत धीरे से पता नहीं क्या सरक कर झुर्रियों में अटक गया था ; शायद बिना लेन-

देन, साजो-सामान के सिर से उतर गया बेटी के ब्याह के बोझ का हल्कापन ! उदासी, निरीहता या उस अज्ञात आगत वसंत के प्रति एक गहरी, गीली सी कृतज्ञता ! जिसे देखकर वह सहम गई थी। बस···

फिर लौटा था अमर। कारखाने के काले-कीचड़ पेट्रोल की तेज़ गंध उड़ाते कपड़ों में सना सिमटा···

मां के पास अचानक उन दोनों को बैठा देखकर चौंका था। फिर बिना किसी प्रतिक्रिया के रूठा-रूठा सा चुपचाप भीतर चला गया था।

कुछ देर प्रतीक्षा के बाद वह खुद ही उठ कर भीतर गई थी। जहां अमर दोनों जुड़े हाथ माथे पर रखे, आंखें बंद किए पीठ घुमाए दीवार से लगा-लगा निःशब्द रो रहा था।

पीठ पर बहन का स्पर्श पाते ही हिलक कर फूट पड़ा।

···जीजी, तुमने घर छोड़ते वक्त कुछ तो सोचा होता, मां का नहीं तो मेरा···मेरा नहीं तो मां का ख्याल किया होता···

किस दोष का दण्ड देने के लिये तुमने हमें इस जिल्लत की आग में झोंका है ?"···

और मोह की वह कोमल कोंपल दुखद आश्चर्य की तीव्र आंच में झुलस कर राख हो गई थी।

सब कुछ छूट गया था। मां अमर···वसंत···

तीनों···हमेशा अटके रहने का शाश्वत सत्य बनाए रखने वाले ढाक के तीन पत्तों की तरह झर कर अलग हो गये थे।

वसंत को वैभवशाली पिता की इच्छा के समक्ष झुकना पड़ा था। और···और···मोरी की ईंट राजमहल को लगते-लगते ऊंचाई से गिर कर टूट गई थी।

वसंत ने अपना अंश उसे देकर हमेशा के लिए अपने से काट कर अलग कर दिया था। वे शायद इसमें इसीलिये सफल हो गये थे कि मंदिर में हुए साधारण विवाह का कोई साक्षी न था। साक्षी तो खैर···अब वह विश्वास भी नहीं था जिसे लेकर वह उनके प्रति समर्पित हुई थी।

रिश्ते का वह कोमल तंतु खिंचते-खिंचते मुट्ठियों में एक गहरी कसन भरा खिंचाव छोड़ता फिसल कर छूट गया।

काश ! वेणु पिछले बारह साल से दोहराए जाते एक ही प्रश्न को पूछना भूल जाए। पापा कहां हैं ! कैसे हैं ?

कई बार उसका मन चाहा कि वह वेणु को खींच कर यथार्थ के अलात चक्र के बीच खड़ा कर दे कि उसके पापा इसी शहर में हैं ; वह कई बार उनके स्टोर के आगे से गुजरी है। पर वह कैसे बताए कि यही हैं उसके पापा जो समाज के थोथे आदर्शों, बिखरते मूल्यों में विश्वास नहीं रखते थे।

हवा में मुट्ठियां उछाल कर स्वप्नों के जादुई रूमाल हिला-हिला कर रंग-बिरंगे फूल बिखेर कर मुग्ध करते वह अचानक उसकी मां को दीन-हीन निर्स्व करके मुड़ गये थे।

अब सिर्फ वह है और वेणु उसकी बच्ची···एक प्रश्न ! एक शाश्वत अनुत्तरित प्रश्न— जिसके आतंक से बचने के लिये उसने उसे अपने से दूर कर रखा है।

वह क्या करे ! क्या करे वह ! कई रोशनियां अंधेरों से भी कहीं अधिक त्रासद और घातक होती हैं। तीर की भांति शीशा पार कर गई रोशनी की लकीर की तीखी चौंध जब एक बार आंखों में लग जाए तो आदमी को अंधा किए बगैर नहीं छोड़ती और फिर मनुष्य खुली आंखों से जीवन का विराट अंधेरा पीते हुए अपने ही मलबे में धंसा अपनी ही आत्मा के धुंधले निशान खोजने के लिए विवश हो जाता है।

नहीं, वह वेणु को और घर में नहीं सह सकेगी···अभी तो उसकी कितनी ही छुट्टियां बाकी हैं। सुबह होते ही वह अपने किसी सरकारी काम से बाहर जाने का बहाना बनाएगी, वेणु को समझा कर उसे बाकी छुट्टियां भी होस्टल में ही गुजारने देने की अनुमति के लिए उसकी मेट्रन के नाम खत लिखेगी···और शेष रहे प्रश्न को छाती में उठे आवेग के गोले की भांति थूक के साथ सटकते हुए उसने रजाई चारों तरफ से दबा ली। अपने को भीतर छिपाते हुए उसने सांस रोक कर देखा, घड़ी की टिक-टिक थम गई थी और सुबह का अभी कहीं कोई अता-पता न था।

———

कविता

इतिहास का जीना

—सुशान्त चौधरी

अपने ही हारने का बोध
स्वयं से
शायद
किसी को न जंचे
पर
एक पराजित युद्धबन्दी सा
अपने ही 'अहं' की
प्रस्तर शिलाओं में कैद
कैसे मान लूं स्वयं को
अहं से हारा हुआ।

अपने आपसे हारना भी
होता है
एक लम्बा
यातनाजनित इतिहास जीना
जबकि,
इतिहास के लेखक
का नाम हो 'समय'
दिशाहारा सा चारों ओर,
भटकते फिरना क्या मात्र
विसंगति है जीवन की ?

कभी इसी प्रश्न का उत्तर
खोजने आत्मलीन हो जाता हूँ
अपने आप में ही कहीं
दूर खो जाता हूँ।

पर,
हर क्षण
ऐसा लगता है मुझे
कि,
जैसे किसी नाग की मणि
छीन
उसे तपती रेत में
तड़पता छोड़
कोई बहुत दूर
निकल गया हो।

———

कहानी

कारागार

—जगत मोहन सिंह 'अचल'

आखरी फाइल को परे सरकाते, राकेश ने सामने लगी 'वाल क्लाक' की तरफ देखा, पांच बज रहे थे—लेकिन उसका मन आज उठने को नहीं कर रहा था। कहां जाए वह ? घर जाने को जी नहीं कर रहा था, हालात इन्सान को कभी कभी कितना कठोर बना देते हैं, जानते हुए भी कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए वह फिर भी अपने आपको सताता है—खाई की ओर बढ़ता जाता है। सुबह की हल्की सी बात ने घर में एक तूफान सा खड़ा कर दिया था, सरला की हर बात जैसे ज़हर में बुझी थी। क्या करे वह ? एक गहरी ठण्डी सांस जैसे उसकी आत्मा से निकली। उसकी आंखें बन्द हो गईं, और सिर मेज़ पर झुक गया। हल्की सी दस्तक सुनाई दी उसे···वह खीझ उठा—अब पांच बजे कौन अपनी समस्या लेकर आया है। उसने चपरासी को कह रखा है कि चार बजे के बाद उसके पास कोई फाइल नहीं आनी चाहिए —श यद चपरासी बाहर नहीं है।

उसने खीझ भरे स्वर में कहा, "यैस, कम इन"। ···'मधु तुम और इस समय'—राकेश की खीझ विस्मय में बदल गई।

मधु ने अपने आपको कुर्सी पर गिराते हुए कहा, "घर जाने को मन नहीं कर रहा था—सोचा शायद तुम अभी आफिस में होगे।"

"नहीं नहीं, मैं तो अभी नहीं जा रहा"···कहते हुए उसने कालबैल दबाई—कोई नहीं आया। उसने हंसते हुए कहा, "लोग कितने पाबंद हो गए हैं—पांच बजे नहीं कि गायब··· ।"

"सुनो, मरने का सबसे आसान तरीका कौन सा है ?"—जैसे तालाब में बड़ा सा पत्थर फेंकते मधु ने पूछा था।

वैसे ही हंसते हुए राकेश ने कहा, "बहुत से आसान तरीके हैं, कुएं में छलांग लगाना, गाड़ी के आगे कूद जाना या फिर दरिया में छलांग लगाना, बोलो तुम्हें कौन सा तरीका पसंद है ?"

"मज़ाक छोड़ो। ...मैं ज़िंदगी से बहुत तंग आ चुकी हूं।"

ठहाका लगाते राकेश ने कहा, "मज़ाक तो तुम कर रही हो।"

"नहीं नहीं राकेश, मैं..." कहते कहते मधु की आंखें छलछला गईं।

"ओ! आई सी—आज फिर दंगा किया है क्या?"

"तुमने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया।" मधु ने कहा।

राकेश मुस्कराते हुए मधु को देखता रहा।

"बोलो, कुछ तो कहो", मधु ने कहा।

"मैंने तुम्हारे सवाल का जवाब दे दिया है।"

"ओह!"—केवल इतना ही मधु से कहा गया।

"हां अगर तुम इसे समझ सको"—अपनी कुर्सी से उठकर वह मधु के करीब आया, "बोलो मधु क्या तुम अपने को ज़िंदा समझती हो?" कहकर राकेश घूम गया—दूसरे ही पल पलटते हुए उसने मधु की आंखों में जैसे उतरते हुए कहा, "लेकिन मधु तुम्हें ज़िंदा रहना होगा।"

"किसके लिए"—निराशा भरे स्वर में मधु ने कहा।

"अपने लिए! और किसके लिए?"

"सिर्फ अपने लिए क्यों?" गहरी निःश्वास से मधु ने कहा, "बोलो न क्यों?"

राकेश चुप रहा।

"बोलो न, अब बोलते क्यों नहीं? आदर्श और रास्ता तो सभी बताते हैं लेकिन साथ कौन देता है?—जिस तन लगती है वही जानता है।"

गहरी सांस भरते राकेश ने कहा, "हां मधु जिस तन लगती है वही जानता है।"

उसी भावावेश में मधु ने कहा, "यदि कोई किसी का साथ देता है—तो अपने स्वार्थ के लिए—अपनी भावनाओं की तृप्ति के लिए।"

"भावनाओं की तृप्ति" अचम्भित होकर राकेश ने शब्दों को जैसे उसी पर फेंक दिया।

"हां हां भावनाओं की तृप्ति, कौन किसको देता है—सभी लेना जानते हैं—देना आसान नहीं", अपनी छाती में गड़े लावे को उगलते मधु कहती गई। "सभी अपनी अपनी भावनाओं के घेरे में बन्धे हैं, मुंह पर मुखौटे लगाए—कहो न सही स्वच्छन्द जीवन कौन जी रहा है—तुम या मैं...शीला या कमल, बिन्दु या अजीत...?"

"स्वच्छन्द जीवन"—मधु के शब्दों में खोए हुए राकेश ने कहा।

लावा जैसे फट पड़ा, "हां! हां!! हर कोई अपनी भावनाओं की पूर्ति चाहता है, दूसरे को अपने घेरे में बान्ध कर। क्या बन्धा, वर्जना से भरा जीवन स्वच्छन्द जीवन है? क्षणिक भावावेश में आकर मानव क्या कुछ कह देता है—कर बैठता है—क्या तुम समझते हो कि प्रगाढ़ आलिंगन से हम एक दूसरे के हो जाते हैं? क्या यह सब मन से होता है...बोलो न...।"

राकेश समझ नहीं पा रहा था कि वह इस भावावेश का क्या उत्तर दे। वह केवल इतना ही कह सका, "आज इतनी निराशा कहां से संजो लाई हो।"

"आज नहीं लाई हूं राकेश, अरसे से इकट्ठी करती आई हूं। अब झोली बहुत भर गई है—उठाई नहीं जाती।"

"मैं समझा नहीं", अनायास ही राकेश कह उठा।

"अभी तो तुम मुझे समझा रहे थे, जीने की राह सिखा रहे थे, अब खुद ही भटक गए। ज़माना बहुत बदल चुका है राकेश···"

"शायद मैं और तुम इस दौड़ में बहुत पीछे रह गए हैं। फिर तुमने शादी क्यों की," सहसा राकेश ने पूछा।

"किसने की ?" मधु ने कहा। "शादी तो मेरी की गई या कहो हो गई।" गहरी सांस भरते मधु ने फिर कहा, "एक अनजाना सा भय मेरे मन में रहता था। फिर मैंने जीवन से समझौता कर लिया—मेरे दिन हसीं और रातें रंगीन हो गईं··· ।"

"फिर ?"

"फिर न जाने क्या हुआ ? सपना जैसे टूट सा गया।"

"कैसे", राकेश ने पूछा।

"शायद मैं सब कुछ देकर भी कुछ नहीं दे पाई।"

"लेकिन वह समझौता··· ।"

बीच ही में राकेश की बात काटते हुए मधु ने कहा, "यह सब शायद उसी समझौते के कारण ही तो हो रहा है। शायद मैं अपनी भावनाओं की पटारी को सम्हाल कर नहीं रख सकी। एकदम खाली कर दी।

"और लेने वाला ?" राकेश ने पूछा।

"वह लेता रहा।" फिर कुछ खोई सी मधु ने कहा, "लेकिन कहीं कुछ गलत हो गया—जिसे मैं पकड़ नहीं पा रही···या मैं ही समर्पिता न बन सकी, या जो वह मुझ से चाहता था, वह मैं न दे सकी, और वह उसे कहीं और पाता रहा ; फिर कहीं और···मैं देखती रही अपने ही घर में अपने ही बैडरूम में वे किसी··· ।" कहते मधु की आंखें फिर बलबलाने लगीं।

"इस बात को तुम भूल क्यों नहीं जातीं ?"

"कैसे भूल जाऊं– मेरा सब कुछ कोई लूट कर ले गया···मैं देखती रही—मैंने लाख भूलने की कोशिश की—तुम्हारे आदर्शों की कितनी कड़वी गोलियां गले से नीचे उतारीं," कह-कर वह चुप हो गई।

"तुम उससे बदला लेना चाहती थीं न, क्या अपने आपको गिराकर तुम सुखी रहतीं ?" राकेश को पूछा।

"तो क्या अब मैं सुखी हूं ? हालात के साथ मैंने अपने को कितना नहीं बदला और अब हार कर अपने को ही बदल लिया है।"

"ओह", गहरी सांस राकेश के मुख से निकली।

दूर शून्य में देखते हुए मधु ने कहा, "आज भी कभी समझौते का सहारा लेती हूं···लेकिन दो दिन के बाद सहारा टूट जाता है—मुझे मुखौटों से नफरत हो गई है—बात तो अब गालियों और हाथापाई तक आ पहुंची है।"

"सच", आहत राकेश से इतना ही कहा गया।

"मधु ने फीकी सी हंसी से कहा, "तुम्हें मेरे इस परिवर्तन पर हैरानी होती होगी न कि 'कालेज की शील की मूर्ति' मधु को क्या हो गया।"

"लेकिन अब"···राकेश का प्रश्न अधूरा रह गया।

"हां। अब क्या करूंगी ? यही सोचती हूं। तुम मरने देना नहीं चाहते, मैं जीना नहीं चाहती···अब करूं तो क्या करूं ?"

राकेश ने कहा, "सुनो तुम अच्छी तरह से जानती हो समझौता तो मैं भी कर रहा हूं—जिस खाई को मैं रोज़ पाटने की कोशिश करता हूं—वह और गहरी होती जाती है। अपने ही घर में मैं अक्सर पराया हो जाता हूं—और घर की तरफ बढ़ते कदम कई बार रुक जाते हैं।"

वातावरण में एकदम चुप्पी सी छा गई। राकेश कुर्सी से उठा। उसने चाहा कि यह सांत्वना भरा हाथ मधु के कन्धे पर रखे, लेकिन बढ़ता हाथ पीछे हट गया। मधु पलकें झुकाए विचारों के धुंधलके में गुम थी। वह फिर आकर कुर्सी पर बैठ गया।

"कहीं तुम्हारी नौकरी तो उसका कारण नहीं ?'

मधु ने अपनी बोझल पलकों को ऊपर उठाते हुए कहा, "क्या अब इसको भी छोड़ दूं" —कितनी कातरता थी आवाज में। "अब तुम यह चाहते हो कि जिस कैद से मुझे सात घण्टे की छुट्टी मिलती है—उसी काल-कोठड़ी में हर क्षण पड़ी रहूं···यही चाहते हो न।" राकेश ने उठ कर मधु के कन्धों पर हाथ रख दिए। ब्द उसके होठों से निकल नहीं रहे थे—इस सांत्वना भरे स्पर्श से मधु जैसे पिघल गई—उसने राकेश की ठण्डी कलाइओं को अपने तपते हाथों से पकड़ा और उसे अपनी तरफ खींचा—आंखें बन्द हो गईं—एक पल के लिए जैसे वह सब कुछ भूल सी गई—मधु की गर्म सांसें राकेश के मुख पर बिखरने लगीं—लेकिन एकाएक जैसे किसी ने मधु को गहरे सागर से बाहर निकाल फेंका हो। राकेश की कलाई को छोड़ते टूटते स्वर में मधु के मुख से धीमे से निकला—"नहीं, नहीं ! यह तो इसका हल नहीं।"

राकेश ने भी खोए हुए से कहा, "हां मधु अपनी सलीब खुद हीं उठानी पड़ती है—जंगल में गुम हो जाने पर आग लगाने से रास्ता नहीं मिलता।"

"तो फिर मुझे जंगल में गुम ही रहना होगा।" आहत मधु ने पूछा।

हल्की सी मुस्कान राकेश के मुख पर खेल गई, "नहीं मधु! वक्त की मरहम के फाहे हालात के जखमों पर रखते जाओ, कभी न कभी तो रिस्ते नासूर बन्द होंगे, ज़खम भरेंगे।"

मधु उठी—उसे लगा उसके मन का बोझ कुछ हल्का हो रहा है—वह चुपचाप कमरे से बाहर आ गई—राकेश भी उठा···बाहर वह मधु को जाते हुए देखने लगा। मधु के कदम धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। उसने एक बार पलट कर राकेश की ओर देखा। कदम फिर आगे बढ़ गए। राकेश को लगा, मधु जैसे अपने घर नहीं एक बहुत बड़ी जेल की तरफ जा रही है। एक हूक सी उसके मन में उठी। उसने चाहा कि वह मधु को आवाज़ देकर रोक ले लेकिन यह आवाज़ उसके होठों पर चिपक कर रह गई थी।

———

निवेदन

★ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

★ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।

★ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुबाध्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है अतः उसे अपने पास ही रखें तो बेहतर होगा।

★ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

★ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

कश्मीरी रुबाइयां

—मीर गुलाम रसूल नाज़की

डसा रात के अंधियारे ने काश कि हो जाए प्रकाश,
नहीं रोज़ यदि, एक बार ही, काश कि हो जाए प्रकाश,
जाने कौन कि अंधकार या तिमिर इसी से हट जाए
एक साथ आवाज़ दो सभी काश कि हो जाए प्रकाश ।।१।।

हवा चली और वुलर[1] में मची उथल पुथल,
लहरें उठीं कि ज्यों उचके घोडे अड़ियल,
हुआ तीसरा पहर कि धीमी पड़ी हवा
क़ूड़ा तट पर, बैठा तल पर मुक्ताहल ।।२।।

सपनमय जादुई रुत और है मौसम वसंती,
निशा, नक्षत्रनभ है चांदनी है शांति छाई,
भटकता उपवनों में और सोचा यही करता,
विषय ताज़ा बहारों का कोई या फिर जुनूं हो ।।३।।

मैंने तेरी झलक तुम्हारी परछाईं को गले लगाया,
रक्त दिया, बलिदान हुआ और तेरी कलाओं को अपनाया,
तुमने कभी न पूछा मुझको, नहीं खबर ली मेरी,
कहीं तुम्हें तो नहीं बड़प्पन यह दे गया खुदाया ? ।।४।।

माली ने डाली को यह उपदेश दिया—
वह बोली हिम आंधी ने मुझको मारा,
आस बहारों की रखो हरियाली को,
साथ पेड़ के लगी रहो, ले लो सहारा ।।५।।

१. वुलर : कश्मीर की एक झील ।

रहूं अकेला खो जाता हूँ है तेरा विचार,
भरी सभा में बैठा जाने किसका करता इंतजार,
तनहाई में होता हूँ तो गरम महफिलें करता हूँ,
मगर यही अनुभूति मुझे तनहाई की बस डाले मार ।।६।।

अंतरंग मित्रों को मन के भेद बताया करते हैं,
पायें तसल्ली, भार हृदय का लोग हटाया करते हैं,
कोई नहीं हमारा ऐसा बात हमारी जो समझे,
और किसी से नहीं स्वयं से हम बतियाया करते हैं ।।७।।

नभ था साफ कयामत जैसी कहीं से आई आंधी लाल[२],
लगा, अकारण दरिया उफना, गुस्सा पाया नहीं संभाल,
उसको सागर की गोदी से हवा किनारे गई फंक,
इसकी डूबी नाव तेलबल[३] के नाले में, रे ! अकाल ! ।।८।।

पतंगा दोप की जैसे, मैं परिक्रमा करूं खुद की,
अगर मैं 'नेति'[४] मानूं तो 'इदम' से हाथ धोऊंगा,
निकट उसके[५] बहुत जाऊं मगर दूरी रहे फिर भी,
जानूं मैं उसी में लय हुआ तो अहं खोऊंगा ।।९।।

लंबा है यह सफर कठिन है राहें मेरी बड़ी कठिन
कालसर्प सी रात डसे है, अंधियारा है बड़ा सघन,
फूटो कौड़ी नहीं, जेब है खाली, टूटा थका बदन,
आगे नहीं कदम रख पाता, पीछे जाते नहीं चरण ।।१०।।

अनु० : डॉ० रतनलाल शांत

---

२. लाल आंधी : कयामत (रोज़े हिसाब) के दिन उठने वाली आंधी ।
३. तेलबल का नाला : डल झील से आ मिलने वाली एक छोटी नदी ।
४. नेति : एतद—इस जगत के सत्य को अपूर्ण समझकर नकारना ।
५. उस : प्रभु ।

कहानी

खत

—महाराज कृष्ण शाह

आखिर क्या सोच कर कलम थामी ? और अगर खत ही लिखना है तो बिजली क्यों बुझा दी ? कुछ समझ नहीं पा रहा था—या समझ रहा था—पर निश्चित नहीं कर पा रहा था। कश्मीर में गर्मियों के दिन—और लोगों के लिए भले ही मौज-मस्ती के हों हम जैसों के लिए—मक्खियां, मच्छर और गटर की बदबू फैलाने वाले ही होते हैं। पर उसे लिखना है··· बहुत आजज़ी दिखाई है उसने - चिन्ता भी है उसे, बहुत। उसके बगैर अकेला मैं कैसा महसूस करता हूं, वह जानना चाहती है। मेरा ज़ेहन उस शब्द के लिए उतावला हो उठा, "प्रिय !" पर न जाने क्यों यह शब्द बेहूदा सा लगने लगा···एक बेचैनी से दिल दहल उठा। प्रिय ? —एक झिझक सी होने लगी। लिखा तो उसने भी अपने खत में 'प्रिय' ही था पर मुझे कितना हास्यास्पद लगा था—जैसे किसी रोमेंटिक नावल से उधार लिया गया शब्द। फिर कौन सा शब्द है जो लिखूं ? आकाश में सफेद हल्के बादलों में से चान्द बिलकुल बाहर निकल आया था—जैसे मेरी विवशता पर कमरे में कोई हंसा हो—सहसा पहली बार मैंने सारे कमरे को ध्यान से देखा—चान्दनी पूरे कमरे में छितर आई थी और सारा कमरा रूआंसा लग रहा था। सभी चीज़ें अस्त-व्यस्त थीं···सवेरे के जूठे बर्तन···निकाले हुए कपड़े और एक कोने में किचन का बिखरा हुआ सामान···इन सब चीज़ों से नज़रें हटा कर मैं एकदम हाथ में लिए कोरे पैड को देखने लगा। मन में उस अनुभव को जगाने लगा जो उसके साथ जुड़ा हो—पर कहीं कुछ स्पष्ट नहीं लग रहा था—आंखें दूर आकाश में बिना उद्देश्य भटकने लगीं। पड़ोसी मकान के बरामदे का लैम्प जला। मेरी नज़रें वहां घूमीं। कुर्सी में दुबके सरदार जी बराबर जम्भाइयां ले रहे थे। बराबर फैलता और सिकुड़ता मुखमंडल। सरदार जी खिन्न होकर चान्द की ओर एकटक देखने लगे—उनकी इस हरकत से मुझे एक अजीब सी कोफ्त होने लगी। क्या वे भी इसी अर्थ में चान्द देख रहे हैं जैसे मैं ? अचानक उठकर वे अन्दर कमरे में चले गये—पर बिजली का लैम्प जलता छोड़ गये। मेरे हाथ में पेपरवेट उछलने लगा—अचानक मेरे पांव फर्श पर गिरे पैन से छू गये—मुझे अपने कमरे का और अपनी उपस्थिति का फिर बोध

हुआ। मैं फिर से खत लिखने में जुट गया। हल्की सी हवा चलने लगी थी—गर्मी का और अधिक अहसास हो रहा था—"गांव में इतनी गर्मी नहीं होती अबके अपने लिए ज़रूर 'फैन' खरीदना," उसकी ज़िद थी। बहुत कोशिश करके भी मैं पच्चीस रुपये से ज्यादा नहीं बचा पाया था। यह देखकर कि पच्चीस रुपये में 'फैन' नहीं खरीदा जा सकता मैंने 'बिट्टू' के लिए 'किट' खरीदना मुनासिब समझा था—उसी शाम दीनानाथ जी बहुत सी इधर-उधर की बातें करने के बाद मुझसे पचास रुपये उधार मांगने लगे थे—यह सोचकर कि इनके मकान में रह रहा हूं मैंने बड़ी सफाई से सिर्फ पच्चीस रुपये दे पाने की विवशता ज़ाहिर की थी—जिस प्रकार पच्चीस रुपयों का उन्होंने स्वागत किया था उससे साफ ज़ाहिर था कि उन्हें मुझसे पच्चीस की भी अपेक्षा नहीं थी—और मैं बाद में कितना पछताया था कि कम बोल कर दस ही क्यों नही दिये थे।

ऊपर की मंजिल में चलने की हल्की आहट हुई—मकान मालिक की लड़की, पूरे पच्चीस साल की कुंआरी बेकरार टहल रही होगी और उसका बाप बीड़ी पर बीड़ी पीता इस सियाह चान्दनी को देख रहा होगा···। एक लम्बा उसांस मेरे कमरे की खिड़की से गिरता हुआ आंगन में बिखर गया—

"ओह ! बिटी—नींद नहीं आ रही तुझे ?" मकान मालिक अपनी बेटी से पूछ रहा था।

"वैसे ही टहल रही थी, गर्मी बहुत है···।"

"क्या खाक गर्मी है ? थोड़े से बादल हो जाते हैं तो लिहाफ लेकर बैठ जाती हो···तुम दिनोंदिन काहिल हो रही हो···।"

इस बार फिर एक भरपूर उसांस मेरे कानों से चिपक जाता है—सारे बदन में एक सिहरन सी दौड़ जाती है।

"आखिर तुम गई क्यों नहीं उनके साथ ?" इस बार पिता के स्वर में न चिड़चिड़ाहट थी न आक्रोश···एक उदास भाव, बस !

—कैसे जाती ?

—क्यों ?

—ओफ ! फैन क्यों बन्द कर दिया आपने ?

—इसके चलते रहने से मुझे झपकी तक नहीं आती—खट-खट करता रहता है, बहुत पुराना है न, मेरी तरह···

···'प्रिय !' लिखना ही होगा, कितना ही बेहूदा और हास्यास्पद क्यों न लगे—पर एक रिश्ता होता है जो होने-न-होने पर भी निभाना होता है और रिश्ते तो अनकहे ही चलते रहते हैं। क्या वह सब लिखूं जो सच है ? मात्र सच ! जैसे मेरा मकान मालिक और जवानी को अलविदा कहती उसकी कुंआरी बेटी···पर यह मात्र सच नहीं—सच या है, या नहीं है···पर यह कितने हैं और कितने नहीं हैं···यह मैं कितना जानता हूं—अपनी यह सफाई खत के लिए

काफी थी—खत लिखने बैठा—बत्ती फिर से जलायी और कलम हाथ में थाम लिया—'बच्चों को प्यार, खूब चिंता रहती है···तुम छुट्टी का आवेदन दे दो···कुछ रोज आ जाओगी तो··· आओगी तो···तो··· ।' नहीं फाड़ दो इसे···यह मुमकिन नहीं···वह भी कहां आने वाली है··· लिख देगी छुट्टियां नहीं मिल रहीं । लिख दूं नौकरी छोड़ दो···, दिमाग खराब हो रहा है···

ऊपर कोई फिर चलने-फिरने लगा है···सीढ़ियां उतरने की आवाज़ और मेरे दरवाज़े पर दस्तक··· । ओह ! यह क्या ?

—आइये···कहिए क्या सेवा···

—माचिस है आपके पास···पपा लानी भूल गए···सिग्रेट की लत है न···

—वहां उस कोने में है···वहीं जहां बर्तन रखे हैं ।

—आप सोये नहीं···मैं डर गई थी आप सो न गए हों ।

—ऐसा है कि··· ।

—गर्मी बहुत है··· ।

—जी हां··· ।

—नींद नहीं आती···मैं ले रही हूं ।

—क्या ?

—माचिस··· ।

—ओ, हां ! ···अच्छा ।

गई पर कुछ हिला सा दिया···कभी-कभार जब भी मेरे कमरे में आती है तो मेरे दिल में सौ प्रकार की प्रतिक्रियायें होती हैं···

रात की खामोशी में मच्छरों और मक्खियों की मिली-जुली भनभनाहट उभरती है··· दूर से बजते रेडियो पर कोई कलासिकल धुन और रमज़ान भिखारी की पागलपन में या मच्छरों से बेचैन होकर दी गई नंगी गालियां···सब कुछ ऐसा अहसास दे रहा था जैसे सड़क पर आवारा घूम रहा हूं···बिल्कुल बेघर—फिर भी मन की एकाग्रता का निश्चय और किसी दूसरी जगह रहने का प्रयत्न ढहता हुआ नज़र आ रहा था···

—तुम लैम्प क्यों नहीं बुझातीं ? कमरे में ढेर सारे मच्छर घुस आये हैं, फिर उसी चिड़चिड़े भाव से पापा ने बिटी को टोका है ।

—आप मच्छरदानी क्यों नहीं लाते ? अपनी आवाज़ को और सख्त और ऊंचा करके बिटी उबल पड़ी ।

—यह जवाब है तेरा, इतनी रात गये तक लैम्प जलता रखो तो नींद···

'टिक' लैम्प बुझ गया किन्तु दो सूनी आंखें फिर क्लांत-शांत आकाश तकने लगीं । आकाश मन में उठे अभावों का प्रत्यक्ष प्रमाण—न जाने क्यों मैं ऐसा सोचता हूं, सम्भव है उसने आंख झपक पर नींद का स्वागत किया हो ! पर यह कैसे हो सकता है···उसांसों का अविरल फव्वारा मुझे बराबर छूता हुआ भिगो रहा था··· ।

एक बार फिर आधे लिखे खत का मज़मून मैं पढ़ने लग जाता हूं—प्रत्येक शब्द कोरी लिखावट के सिवा कुछ नहीं, बस जैसे दफ्तर की किसी फाईल का यंत्रटंकित अक्षर···मैं कोशिश करने लगा अपनी पत्नी का वह रूप स्मरण करूं जो मुझे उत्तेजित करता था, भावनाओं के बवंडर में उछालता-तैराता था—एक क्षण के लिए इस स्मरण की खोज मैं आकाश के मनमोहक और मादक चलचित्रों में करने लगा···एक मटमैला पर्दा···गहरा अंधेरा···फिर कोशिश की···हड्डियों के अस्त-व्यस्त पिंजर···ढेर के ढेर पिघलते सीसे···ओफ ! वह सौन्दर्य, वह लावण्य···वह पाठ्य-पुस्तकों की रोमानी कवितायें···कहीं हैं क्या ? नहीं सिर्फ पढ़ा, सुना है···कभी देखा नहीं···हां सोचा ज़रूर और मैं मानता आया हूं, मैं छू चुका हूं—भोग चुका हूं···ऐसी कितनी बातें हैं जिनको सोचकर ही सतोष करना पड़ता है—किसने ये सारे स्वप्न हमारी आंखों से छीने हैं ?

मैंने आकाश की ओर से घबराहट में आंखें हटा लीं और सिग्रेट सुलगाने के लिए 'माचिस' तलाशने लगा। मैं भूल गया था कि 'माचिस' 'वह' ले गई है। बाहर के गलियारे में कुछ फुसफुसाहट होने लगी···किसी के दबे कदमों चलने की आवाज़। यह सब नया नहीं है मेरे लिए—पहले पहल कुछ अजीब लगता था—उठकर दीवार से कान लगाकर या 'चिक' की ओट में बैठकर इनकी बातें सुनता था—पर अब शर्मिन्दा होता हूं···

—पापा सो गये हैं तेरे ? लड़के ने शायद उससे निर्भय रहने का रास्ता पूछा था।

—तुम कई दिनों से नहीं आये···मैं डर गई थी···

—किस बात से ?

—डर गई थी···ऐसे ही।

—मुझे अब यहां इस तरह आना बहुत अपमानजनक लगता है बिट्टू।

—शी···आहिस्ता, ये सुअर अभी जाग रहा है···

—तुम्हारा वहम है बिट्टू···कौन जागता है ? सब सो रहे हैं···खूब खुर्राटे ले-ले कर सो रहे हैं···जागने की किसे फुर्सत है ?

—तुम बहुत बड़ी बातें करने लगे हो।

—जब आदमी का पेट आधा रह जाता है तो बाकी पेट वह बड़ी-बड़ी बातों से भरता है।

—मुझे भी कुछ बड़ी बातें सिखाओ न। मैं तो रोज़ ही आधा-पेट रहती हूं···।

—क्यों तुम रेडियो नहीं सुनती···भाषण नहीं सुनती···अध्यात्मवाद और भारतीय संस्कृति पर किसी का लेक्चर नहीं सुनती···एक बार ध्यान से सुनो सारी भूख मिट जायेगी···

—कोई और रास्ता नहीं ?

—है। चलो भाग चलें।

—कहां ?

—कहीं भी ।

—पागल न बनो आज मिलने का यह चोर दरवाज़ा है कल फुटपाथ तक पर जगह न मिलेगी···है ही क्या हमारे पास··· ? किस बिसात पर भागेंगे ?

—क्यों मुझ पर भरोसा नहीं···मैं और कुछ न सही मज़दूरी तो कर ही सकता हूं··· तुम्हें खुश रख सकता हूं ।

—क्या करोगे तुम···पहले ही बहुत हृष्टपुष्ट हो न···तिल-तिल करके अपने शरीर को पुस्तकों में गला दिया···अब यह शरीर कोई कठोर काम कर सकेगा ?

—पहले पहल दिक्कत तो होगी पर फिर आदी हो जाऊंगा ।

—दस दिन में तुम्हारा शरीर अस्थि-पिंजर हो जायेगा···मैं इंतज़ार करूंगी···तुम्हें जॉब मिलेगा···मुझे यकीन है···

—ओफ ! जॉब···

—चलो वहां···पंडाल पर कुछ देर···

—नहीं अब जाता हूं···

—ऐसे ही जाओगे···कुछ देर···

—हां ऐसे ही···आज जी कुछ अजीब सा···

—क्यों मुझसे बोर हो गये हो ?

— ··· ··· ···

—तब चलूं मैं···चलती हूं···

—अ-श···

—अब क्या है ?

—आह !

—आह !

धत्, और नहीं देखो । चिक उतार दो···आंखें बन्द कर लो··· उनकी मजबूरी है···आये दिन की—कुछ याद आ रहा है···बहुत कुछ ठीक हो शायद कुछ भी नहीं···हां खत लिखना है···फिर सन्नाटा···फिर दबे कदमों ऊपर के कमरे में चलने की चरमराहट···

—तू कहां गई थी ? पापा फिर टोक रहा है···

—बाथरूम ।

—क्यों ?

—नहीं जाती । क्या यहीं इसी कमरे में··· !

—ओहो···मैं पूछ रहा था, तबीयत ठीक है न ?

—हां ठीक है···आप कुछ अस्वस्थ लग रहे हैं···गोली दूं—नींद की ?

—नींद की नहीं···कोई ठोस गोली दो···हमेशा सुलाने वाली···

फिर कई तकाजे, कई सफाइयां और दो तरफा विवशता के आरोप-प्रत्यारोप भरे आंसू···गीले वक्ष, सुबकती छातियां···सुलाने वाली रात की पीटती हुई थपकियां···रात बिल्कुल चुप···निरीह चुप···नींद का ऊपरी तौर पूरा साम्राज्य—फिर सोचा···क्या खत लिखना बहुत ज़रूरी है···क्या किसी को अपना कुशल भेजना आवश्यक है ? किस ज़िन्दगी का समाचार, किस खुशी की खबर, कौन सी चीज साझी होगी···या हो सकती है ? यही न कि उम्र की कोई रोक न होते हुए भी एक दिक्कत है···हर प्रकार से तुम्हारा पति होकर भी सिर्फ कुछ सिक्कों की खातिर जलावतन हूं और कईयों को घरों में ही जलावतन देख रहा हूं··· । कोई ज़रूरत नहीं कि कहीं गांव से निकाल दो या शहर से निष्कासित कर दो मुझे । मैं तुम्हारे पास से ही निर्वासित हूं···लिखूं फिर तुम्हें··· ? देखो फिर चान्द निकल आया है । ···पढ़ो···यह कोरा खत पढ़ना ही शायद बेहतर रहेगा ।

———

हस्ताक्षर नए···नए

कहानी

मौसम

—क्षमा कौल

रात के तीन बजे उसके नेत्र खुले थे श्रौर उसने अपने को दो लिहाफों और दो कम्बलों के नीचे दफन पाया था। शायद मां ने ही उस पर इतना अधिक बोझ डाल रखा है; कहीं अधिक ठण्ड न लगे मां सोचती है कोई विशेष मोह है उसे इस कमरे से जो यह दिसम्बर श्रौर जनवरी की शिद्दत की सर्दियां भी यहीं काटती है और ऐतराज़ करने पर कहती है कि 'यह मेरी कुटिया है, फकीरों को तंग नहीं करते। मैंने तो सारा जीवन इसी में जीना है।' छोटी राका बेलौस हंसती है और कहती है 'दीदी, भाभी श्रापको समय पर बलपूर्वक बाहर निकाल देगी।'

'निकाल दें, मुझे गम नहीं। फकीर कहीं भी जी लेते हैं, सारी दुनिया उनकी अपनी मिल्कियत है।

'फकीरों का अपना कुछ नहीं होता, इसलिये वह सारी दुनिया को श्रपना कहते हैं।'

राका डरती है कि कहीं वह सचमुच जो कहती है, कर ही न डाले क्योंकि उसके सामने सबसे बड़ा निर्देशक उसका अपना मन है। वह दूसरों की बात का तब तक कोई नोटिस नहीं लेती जब तक कि उसका मन उस बात को मानने का प्रस्ताव पास न करे। वह झटके से लिहाफ को एक तरफ पटक कर उठी और अपनी कांगड़ी सुलगाई, फिरन पहना और मुंह धोने का उपक्रम करने लगी।

बरामदे में यह चकाचौंध कैसी है—चांदनी? पर आज तो कृष्ण पक्ष की अष्टमी है—फिर? और यह समझ कर कि बर्फ गिरी है, वह चौंकी। यह क्या; इतनी जल्दी? अभी तो नवम्बर का अन्तिम सप्ताह है। वह सोचने लगी अभी नहीं गिरनी चाहिये थी बर्फ। कितनों की परीक्षायें होने जा रही हैं। कितने ही लोग तो श्रपने को आगामी बर्फानी मौसम के

लिये तैयार भी नहीं कर पाये होंगे । कितना उतावला हो जाता है कभी-कभी यह मौसम··· अपनी करामात दिखाने के लिये । अभी कोई नहीं जागा, सिर्फ वह जागी है । अभी कोई नहीं जानता कि मौसम को क्या हो गया है, कहां आ धमका है ? सबकी छतों पर, सबों के आंगन में कब वर्फ ने डेरा जमा लिया है । काश रात और लम्बी हो जाती और प्रायः लोगों के लिये यह मुसीबत स्थगित हो जाती । मुसीबत ? लेकिन मुसीबत क्यों ? वह बरामदे का दरवाज़ा खोल कुछ देर खड़ी रही, तल्लीन सी । वर्फ की कितनी सुन्दर तह है । समता में खड़ी बर्फ ठण्डी चीज़ नहीं बेहद गर्म होती है । उसने जैसे बर्फ को पहले कभी न छुआ हो, तापमान न महसूसा हो, और कुछ क्षण के लिये यह बात उसके दिमाग में बैठ सी गई, वह बर्फ को छूने लगी, वाह ! क्या नर्म-नर्म, स्वच्छ और सम । वह आकाश की ओर देखने लगी और उसे लगा जैसे आकाश ने अपना अस्तित्व खो दिया हो, यहां सिर्फ ज़मीन ही ज़मीन है, आकाश भी ज़मीन है । कौन कहता है कि आसमान होता है, और सब पर हावी होता है, तय यह है कि ज़मीन, जिस पर वह खड़ी है, उसका अस्तित्व बड़ा है । ज़मीन पर पड़ी बर्फ को उसका शरीर छूता है और धन्य-धन्य होता जा रहा है । काश वह भी बर्फ ही हो जाती, इसी तरह बिखर जाती—सबों के आंगन में, छतों पर और सभी जगह एक जैसी···बराबर ।

एक आहट होती है । ध्यान भंग हो जाने पर वह देखती है कि मां उठी है । नल पर जाने तक की बर्फ की तह तहस-नहस हो जाती है । उसे लगता है जैसे कोई खूबसूरत सा भवन ढह गया हो । ···काश ! रात और लम्बी हो जाती, सबकी नींद भारी हो जाती । कोई इस तह को मिटाने के लिये नहीं जागता । सूरज भी तो इस बर्फ का वजूद पानी कर देता है हमें रोशनी देने की आड़ में । हमें रोशनी नहीं चाहिये, हमें चाहिये तो यही बर्फ और इसकी यह समता-युक्त तह ।

अपने कमरे में लौटकर वह लिहाफ ओढ़े बैठकर 'दि जजमैण्ट' पढ़ने लगती है । और उसकी चेतना न जाने कितने अतीतों की सैर करती है, कितने अनदेखे स्थानों में रच-बस जाती है···और···एक अनजाने व्यक्तित्व से बतियाती है—आत्मीय की भान्ति । एक विशेष चेतना जब लौटती है तो पुस्तक का वही वाक्य ढूंढने लगती है जहां से उसकी समझ मात खाने लगी थी । वह प्रायः अपने साथ हंस देती है और ऐसी भंगिमाओं में अपने चेहरे को ढाल लेती है कि सामने खड़ा व्यक्ति सोचता है कि यह कुछ कह रही है···मैं ही नहीं सुन पा रहा हूँ । एक दिन उसके सामने भाई खड़ा था तो वह न जाने क्या बड़बड़ाई । भाई ने डांटा, 'यह क्या हो रहा है तुम्हें ? तुम किसी दिन पागल हो जाओगी ।'

'पागल होना भी सिद्धि है, यों ही थोड़े होते हैं । जिसके साथ मेरी आस्थायें जुड़ी हैं उसकी मेरे सामने पोल खुल रही है । अपने से भी घिन्न होती है कि देखो आस्था बनाई भी तो उस पर जो स्वयं डगमगा रहा है···पागल होने के लिए भी साहस चाहिए ।' वह मुंह सिकोड़ता है, अनसुना करता है, जानता है कि लड़की न आधुनिक है और न पुरातन ; स्वयं बीच में डगमग है । इस भारी ठण्ड में रहकर न जाने क्या-क्या विचित्र सपने देखा करती है । एकदम अजीब-

अजीब। परसों वह भाभी को सुना रही थी कि एक पर्वत की तलहटी पर वह रह रहे हैं, आदि-मानवों की भान्ति। जहां कुछ परिचित हैं और कुछ अपरिचित। पर वह नहीं जानती कि कौन क्या है? बाहर मौसम बेहद सर्द है, शायद ऐसा ही बर्फानी और वह सब एक छत के नीचे एक जलते अलाव को चारों ओर से घेरे हैं। कोई अपनी बांहों से एक मृतप्राय व्यक्ति को लाता है। वह हतप्रभ रह जाती है, यह क्या, यह तो जाना-पहचाना चेहरा है। वह बांहें उस ठण्ड से सुन्न प्राणी को सिर्फ छत के नीचे रखती हैं, अलाव के पास नहीं। वह द्रोह करती है, इसे भी अलाव के गिर्द कुछ जगह दो। इसे भी अपने को कुछ गर्माने दो, इसमें इसका भी हक है। पर निरर्थक द्रोह···और वह स्वयं इस बाधा से समझौता करती है। उसका अपना आप अलाव की गर्मी से इतना तपा है कि वह पसीने से बुरी तरह तर है। वह अलाव की सीमायें तोड़ उस ठण्डे प्राणी से लिपट जाती है और अपनी गर्मी से उसके प्राणों का प्रत्यावर्त्तन करती है। निर्जीव सजीव हो उठता है, आंख खोलता है और वह उससे अलग हो जाती है—उसे इस बात का पता नहीं चलना चाहिए कि उसमें प्राण किसने डाले हैं।

भाभी ने कहा था, 'क्या घिनौने मांसल सपने देखती है। कम से कम तुमसे इतनी उम्मीद नहीं कि खुद ही लिपट जाओ एक निर्जीव के साथ। कितनी ढिठाई के साथ मुझे यह सपना सुनाती है।'

'पर भाभी वह तो अचेत था। मैंने तो उसमें चेतना को लौटा लाने के लिए···फिर वह अचेत जो था?'

उसे लगता है कि उसे शायद कोई नहीं समझ सकता। मां कहती है कि ठाकुर जी की पूजा मन लगाकर किया करो सपने नहीं आया करेंगे। लेकिन उसे तो अपने सपनों से बेहद प्यार है। उनको मूल्यवान थाती समझती है। ठाकुर जी की पूजा वह सपनों के लिये नहीं करती···किसी ने उसे कर्तव्य सौंपा है, इसी लिये करती है। राका जब तक अनुपस्थित है तब तक वह यह कर्त्तव्य निभायेगी। पिछले दिनों जब राका पास हो गई थी, तो ठाकुर जी को खूब गाढ़े दूध में नहलाया था, दूध का पाउडर पानी में खूब गाढ़ा तैयार किया था। राका दूध उसकी नज़र बचाकर ठाकुर कोष्ठ में ले गई थी, पर उसकी नज़र पड़ ही गई और वह हंस दी थी, 'हां यह अच्छा तरीका है···पिलाओ ठाकुर जी को गाढ़ा दूध।' और सभी शालिग्राम राका ने दूध में नहलाये थे रात में ही चूहों ने उनको शायद दूध की उल्लियां समझ कर गिरिफ्तार कर लिया। सुबह राका खूब रोते हुए कह रही थी—'दीदी मेरे ठाकुर जी के यहां से सब शालिग्राम चूहे ले गये हैं' और वह उन्मुक्त हंसी हंस दी थी, 'अच्छा हुआ। इतना गाढ़ा दूध जो पिला रखा था।' और राका कितने ही दिनों तक शालिग्रामों को चूहों के बिलों में खोजती रही थी—अपनी दीदी की नज़र बचा कर और जब तक चार पांच को मुक्त नहीं करवा लिया उसने दम नहीं लिया था।

●

मन्दिर में पारम्परिक भजनों के रेकार्ड बजने लगे और उसका ध्यान भंग हुआ···ठाकुर जी की पूजा का समय···।

कमण्डल धोने वह नल पर गई ; तहस-नहस बर्फ उसे बुरी नहीं, अच्छी लगी, उसकी जुराबें भीग गई ; यह तो वर्फ़ की करामात है, और पूजा के उपरान्त देखा कि दिन काफी चढ़ आया है। कितने छोटे-छोटे दिन हैं। दुःखी करते हैं। उसे लगता है कि अब धूप कभी नहीं लौटेगी। पर वह कितने विरोधों से ओतप्रोत है, भाभी रात के अन्धकार में कह रही थी कि कि सूरज के विना भी संसार चल सकता है।

वह सारा घर साफ करती है और बरामदे की बर्फ़ हथेलियों में भर-भर कर आंगन में डाल देती है। मां डपटती है, 'क्या फिज़ूल काम ले वैठी है, यह खुद भी गल सकती है।' उसके कान मानो कुछ नहीं सुनते। वह यन्त्रवत् बर्फ आंगन में फैंकती जाती है और उसका तापमान फिर भी बना रहता है। उसकी आंखों में आग है, मन में अलाव जल रहा है, उसे लगता है कि अगले ही क्षण वह बर्फ से लिपट जायेगी। बरामदे की बर्फ चुकने पर वह आंगन की बर्फ एक ओर ढेर में रख देती है। मां को पीड़ा होती है यह क्या कर रही है? बात क्यों नहीं मानती? बर्फ उठानी ही है तो ढेर में रखने में क्या तुक है? बाहर क्यों नहीं फैंकती। उसका कहना है 'यह बर्फ हमारी है। जिनके आंगन में जो बर्फ है, छतों पर जो बर्फ है, वह उनकी मिल्कियत है ; बाहर फैंकेंगे तो ईश्वर अपनी इस कृपा का अनादर देख हमसे रुष्ट हो जायेंगे।'

पर वह स्वयं चकित है कि इतनी देर से बर्फ उठाते-उठाते वह सुन्न क्यों नहीं हो गई, ठिठुर क्यों नहीं गई। बर्फ अनवरत गिर रही है। मां कहती है 'फिरन भीगेगा तो सूखेगा नहीं।' यह बात उसके लिये बोधगम्य है···सचमुच यह मोटा कपड़ा भीगेगा तो जल्दी सूखेगा नहीं···पर···नहीं, क्यों नहीं सूखेगा? उसे तो कोई ठण्ड महसूस नहीं होती। वह तो गर्म है। एकदम ग्रीष्म सी गर्म···। मां बरामदे में खड़ी उसका पागलपन देख रही है, और बर्फ उठाते-उठाते वह न जाने कितनी बार 'लैटर बॉक्स' में देख चुकी है, जाने उसे किसके पत्र का इन्तज़ार है। मां समझ नहीं पाती···पूरा आंगन साफ करके भी बर्फ में भीगने की उसकी पिपासा शान्त क्यों नहीं हो पाती···पर अब वहां बर्फ की एक डली भी नहीं, सब ढेर हो चुका है। मजबूर हो वह हाथ धोकर अपनी कुटिया में आती है। कलम उठाकर अपनी डायरी में लिखती है—'मेरे प्रिय इस ऋतु की प्रथम तुषार तुमको समर्पित···।' यह उसकी मिल्कियत है।

———

एकांकी

मुंडु, मुंडु, मुंडु

- सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा 'आनन्दम'

[मुंडु (नौकर) का कमरा। दाईं ओर प्रवेश द्वार के साथ ही फलों वाली खाली पेटी पर अखबार बिछी है जिस पर मुंह देखने का शीशा, तेल की शीशी, साबुन की टिकिया तथा दो तीन प्याले धरे हैं। बाईं दीवार में बन्द खिड़की के एक ओर खूंटी पर कुछ कपड़े लटक रहे हैं और नीचे एक और खाली पेटी बेढंगी-सी रखी है। सामने वाली दीवार पर हनुमान जी तथा देवी जी के पुराने कैलण्डर लटके रहे हैं जिनके नीचे दीवार के साथ सटा कर एक मैली चादर बिछी चारपाई लगी है। सहसा मोटर-कार में सामान रखकर डिक्की इत्यादि बन्द करने की आवाज आती है साथ ही कुछ पात्रों की बातचीत भी सुनाई देती है।]

बीबी : सब सामान रख दिया, मुंडु ?

मुंडु : हां, बीबी जी।

बीबी : चाय की थरमॉस कहां रखी ?

गुड्डी : वह मेरे पास है, मम्मी।

बीबी : अच्छा, अच्छा ! सम्भाल के रखना। [मुंडु से] मुंडु··· ?

मुंडु : जी, बीबी जी !

बीबी : फालतू समय जानकर बाहर न घूमते रहना। लौट कर मैं तुम्हारी ग्रॉग्रैस बागीचे में देखूंगी। समझे ?

मुंडु : जी, समझ गया।

बाबू : [कार स्टार्ट करके] ठीक है मुंडु। घर का ध्यान रखना।

मुंडु : आप चिन्ता न करें बाबू जी।

गुड्डी : दो तीन दिन की तो बात है मुंडु। घबराना नहीं। मम्मी और मेरे सभी कपड़े धोकर प्रैस कर देना। पापा जी के 'बैड-शीट्स' भी धोने हैं।

मुंडु : जी, जी गुड्डी जी। [गाड़ी चलने लगती है] अच्छा बाबू जी, नमस्ते !

बाबू : नमस्ते।

मुंडु : नमस्ते बीबी जी। नमस्ते गुड्डी जी।

बीबी । नमस्ते।

[**गाड़ी का स्वर दूर तक जाकर फेड आऊट**]

मुंडु : सब चले गए। अब तू ही मुंडु…तू ही बाबू जी।

[**पुराने फैशन की पतलून और बुशर्ट—जो कभी बाबू जी ने दी थी—पहने मुंडु का गाते हुए कमरे में प्रवेश**]

उड्डी भौंरा, उड्डी भौंरा लमड़ी उडयारा ओ-ऽऽ !

कालु तेरा कोट भौंरा दूरे री पछाने ओ-ऽऽ !!

ऊं हुं…

मुंडु तेरा कोट भौंरा दूरे री पछाने ओ ऽऽ ।।"

[**गाता हुआ चारों ओर दृष्टि घुमाता है और पुराना कपड़ा लेकर पेटी पर धरी चीजों को झाड़ने पोंछने के बाद बिस्तर पर बिछी मैली चादर को उलटा कर बिछाता है। सहसा हनुमान जी तथा देवी को हाथ बांध कर प्रणाम करके मुस्काता हुआ चारपाई की ओर बढ़ता है**] आराम के लिये कुछ समय तो मिला। [**बैठता हुआ**] भला हो तेरा, भगवान्! [**बैठ कर**] आज कितने दिनों बाद, कुछ बेफिक्री से बैठने का अवसर मिला है। आज़ादी की गंध-सी आ रही है। लेकिन कब तक… …[**दीर्घश्वास के साथ तकिया थपथपा कर**] खुश रह री खाट ! तू ही भली। कम से कम पीठ तो सीधी कर लेती है। नहीं तो क्या? सुबह होती है…सफाई करो, बाबू जी को चाए दो, बीबी जी के नखरे सहन करो…और फिर सारा-सारा दिन चक्की के पाटों की तरह (**सहसा**) नहीं, नहीं ! नज़र की तरह फिरते रहो। रत्ती भर सांस लेने का अवसर कहीं मिलता है तो…

बीबी : [**पृष्ठभूमि में अनुगूंज**] मुंडु, पानी का एक गिलास दे जाना।

मुंडु : पानी का गिलास दो तो…

बीबी : [**फिर पृष्ठभूमि में अनुगूंज**] मुंडु, देखना तो गेट पर कौन है? ··दूध वाले को भी देख लेना। इतनी देर हो गई मुआ अभी तक नहीं आया।

मुंडु : सब कुछ कर चुकने के बाद…

बीबी : [**पृष्ठभूमि में अनुगूंज**] मुंडु. यह ले गुड्डी की बैलबाटम प्रैस कर दे।

मुंडु : मैं मुंडु न हुआ कि मशीन हो गया। [**दीर्घ श्वास**] पर हाय! बैलबाटम पहने हुए गुड्डी को देखे बिना भी तो नहीं रहा जाता। जी चाहता है…मेरी दोनों आंखें जाकर उसके साथ चिपक जाएं। पर…मेरे इतने नसीब कहां? राम करे मेरी दस लाख की लाटरी निकल आए और फिर…[**कल्पना करता हुआ सामने देखने लगता है**]

मुंडु : [**टेप किया हुआ अनुगूंज का स्वर**] ओ जाने दे मजनू की औलाद। न कभी तेरी लाटरी निकलेगी और न तू यह कुछ करेगा। अगर कभी निकल भी आई न बच्चू

तो याद रख तू तब भी नाकारा ही रहेगा। पहले तो तू पगला जाएगा। नहीं तो मुझे···डर है···कि तू कहीं आंगन के गढ़े में गिर कर ही न मर जाए।

मुंडु : [यथार्थ] खैर! यह तो उसी समय देखा जाएगा। [लेट जाता है] फिर तो मैं पैदल चलने का नाम तक न लूंगा। मेरी भी एक कार होगी।
[एकदम टांगों को उछाल कर यों बैठ जाता है जैसे कार ड्राइव कर रहा हो। पृष्ठभूमि से कार चलने का स्वर उभरता है। पल भर पश्चात दरवाजे पर दस्तक होती है। एकदम निराश होकर माथा ठोंकता है] ले बेटा, चल गई कार। मालूम नहीं कौन सिरफिरा आन टपका है। [दस्तक फिर सुनाई देती है]

मुंडु : [दरवाजा खोल कर] अबे दीनू···तू? छोड़ यार···।

दीनू : क्यों? क्या हुआ? [आगे आकर पेटी पर बैठ जाता है]

मुंडु : सारा मजा ही किरकिरा कर दिया तुमने!

दीनू : मज़ा? कैसा मज़ा?

मुंडु : [साहबाना ठाठ से] इस समय तो मैं···गुड्डी को बैलबॉटम पहना कर···अपनी कार में साथ बिठाकर एरोड्रोम पर उड़ान कर रहा था। [चारपाई पर एक टांग रख कर दीनू के पास खड़ा हो जाता है]

दीनू : गुड्डी को साथ बिठा कर?

मुंडु : हां! एक हाथ स्टेयरिंग पर और एक बांह गुड्डी के गले में। यों-यों···[दीनू के गले में बांह डाल कर] यों···इस तरह। [ड्राइव करने की मुद्रा]

दीनू : मुझे तो छोड़ यार। [छुड़ाने का सफल यत्न] यह गुड्डी नहीं—मैं हूं मैं। दीनू···।

मुंडु : [खीझ कर] धत् तेरे की। पर, हां! [पूर्ववत] एरोडरोम पर उड़ान देखकर वहां खड़े छोटे, बड़े, हर किसम के जहाज···सबने अपनी आंखें शरम से नीची कर लीं।

दीनू : [अचम्भे भरी खुशी] अच्छा!

मुंडु : और नहीं तो क्या?

दीनू : [सोचता हुआ] मगर यार दीनू। एरोडरोम पर तो जहाज़ उड़ते हैं—कारें नहीं। फिर गुड्डी तेरे साथ क्यों बैठने लगी?

मुंडु : अबे ओ दीनू के बच्चे! तेरी अकल वाली मशीन ढीली है क्या? तू नहीं समझ सकता। ले सुन। मगर हां! जब मैं कोई बात पूछूं—तभी बोलना। नहीं तो मार-मार कर बिछा दूंगा। समझा?

दीनू : अब कुछ बताएगा भी कि नहीं?

मुंडु : हां, तो सुन। मैं कहता हूं कि मेरी दस लाख की लाटरी निकल आई है।

दीनू : [घबक सा] ऐं ?

मुंडु : क्या मतलब?

दीनू : नहीं यार। मुझे तो नहीं मालूम। कब निकली।

मुंडु : अबे घनंचक्कर! मेरी कोई लाटरी नहीं निकली।

दीनू : नहीं निकली ? ···च···च···चलो अच्छा हुआ।

मुंडु : [क्रोध से] मूर्ख कहीं का। [पूर्ववत] उस लाटरी से मैंने एक कार खरीदी।

दीनू : कार ? कौन-सी ?

मुंडु : वही ! जिसे मैं अभी चला रहा था। तेरे आने से पहले। तू ने देखी ?

दीनू : नहीं तो।

मुंडु : जब मेरी लाटरी ही नहीं निकली तब मेरे पास कार कहां से आई और मैं चला किसे रहा था ?

दीनू : मतलब यह कि तू बिना परों के उड़ान भर रहा था।

मुंडु : हां–ऽ– ! यही बात थी। अरे कछुवे···जिस तरह कोई बिना परों के उड़ान भरता है—उसी तरह मेरी कार एरोडरोम पर उड़ान भर रही थी। [श्वास] और जब गुड्डी की सोच अपने साथ हो तब···

दीनू : वाह ! वाह रे रांझे। वाह ! खुश कर दिया तूने। यों कोई बात नहीं पर इतना याद रखना कि जब कौआ अपनी चाल छोड़कर हंस की चाल चलने लगे तब क्या होता है ?

मुंडु : [निराश] बस ! यही तो बात है दीनू कि हम मुंडु हैं। [बात छोड़ कर] और सुना ? मिल गई आधी छुट्टी।

दीनू : मिल गई यार। मुंडु बनकर तो हमारा जन्म व्यर्थ हो गया।

मुंडु : कोई खास बात हो गई ?

दीनू : कल शाम को पार्टी थी।

मुंडु : तब तो खूब मौज रही होगी। खाने-पीने की खुली छूट।

दीनू : सो तो ठीक···पर कमर दोहरी हो गई। साहब के दोस्त आए थे। किसी की कुछ फरमाइश तो किसी की कुछ। एक जान और सौ बीमारियां। एक बजे जाकर कहीं पार्टी से खलासी हुई। दो बजे नींद आई तो पांच बजे फिर आवाज़ लग गई [स्त्री स्वर की नकल] अरे दीनू ! दीनू··· ! अरे उठ। अब तो मुर्गे भी बांगें दे-दे कर थक गए। चिड़ियों ने भी पर तोल लिये हैं।

मुंडु : अब इन बातों से हमारी खलासी कहां ? मुंडुगिरी तो अब एक ढोलक है जो गले पड़ गई है और जिसे हमने बजाना ही है। जितना भी दर्द हो···सहन करना है। वरना हम कर भी क्या सकते हैं ?

दीनू : पर तू तो यार, आज यों मस्त है जैसे घोड़े बेचकर बैठा हो। क्या बात है ?
[चल कर बेकार पेटी पर बैठ जाता है]

मुंडु : [चारपाई पर बैठ कर] बात कुछ नहीं यार। [दीनू बोड़ी निकाल कर मुंडु को देता है। मुंडु माचिस निकाल कर अपनी बीड़ी सुलगाता है और आगे लपक कर उसकी बीड़ी को आग देता हुआ] सारा परिवार साथ लेकर बाबू जी तीन दिन के लिए बाहर गए हैं। सुना है कि उनके किसी रिश्तेदार के घर 'मुंडे' का ब्याह है।

दीनू : शब्दों में कितना मेल है। 'मुंडा' और 'मुंडु' पर भाग्य कितने बेमेल। भाग्य में यह फरक हमीं जानते हैं।

मुंडु : और किसी को ज़रूरत भी क्या है जानने की? ये फरक हम छोटे लोगों ने ही जानने हैं। अभी कुछ ही दिनों की बात है।

दीनू : क्या?

मुंडु : बाबू जी दफ्तर से घर आए तो हर किसी पर पागल कुत्ते की तरह टूट-टूट कर पड़ रहे थे। बीबी जी, गुड्डी, मैं क्या, जो भी सामने आता था उसी को काटने को दौड़ रहे थे।

दीनू : बात क्या थी आखिर?

मुंडु : साथ ही साथ अपने अफसरों को गालियां दे रहे थे। मेरी पच्चीस रुपए साल की तरक्की रोक बैठा साला। मेरा दाव लगा तो उसकी अफसरी का कचूमर निकाल दूंगा।

दीनू : यहां भी फरक नहीं। कोई फरक नहीं।

मुंडु : क्या मतलब?

दीनू : कोई खास नहीं पर फिर भी बहुत बड़ी बात है। जब हम कहते हैं— ...बाबू जी, इस वेतन में मुश्किल पेश आ रही है। दस रुपए ही बढ़ा दें...तो यही बाबू जी कहते हैं, 'तू इस तरक्की के योग्य नहीं क्योंकि तेरा काम संतोषजनक नहीं।' और कुछ नहीं तो कह देंगे, 'पहले ही तू इतना वेतन लेता है। और नहीं बढ़ सकता।' जब अपनी सालाना तरक्की रुक जाती है तो इनको भी वही कष्ट होता है जो हमें। हमने तो सुन रखा है कि एक दुखी का दुख दूसरा दुखी ही जान सकता है। पर...इन दुखियों में वह नाड़ी ही नहीं।

मुंडु : अपने दिल में आए तो तुरंत अरजी भेज देते हैं—[**नकल का स्वर**] मुझे जुकाम की शिकायत है। इसलिये छुट्टी दी जाए। जब हम बीमार हो जाएं तो कहते हैं, [**खड़े होकर नकल का स्वर**] 'तू रोज़ ही बीमार हो जाता है?' [**हंस कर**] अपनी छींक भी लाडली चाहे दूसरे की कमर टूट रही हो।

सत्या : [**बाहर से आवाजें**] बहन जी... ! गुड्डी बहन जी... ! बहन जी... ! गुड्डी जी... !

मुंडु : [**उत्सुक**] दीनू यार, यह तो सत्या की आवाज लगती है।

दीनू : है तो सत्या ही। बुलाऊं! [**खिड़की खोल कर झांकता है**] वही है।

मुंडु : बुला ले यार। थोड़ी गप्प हो जाए उसके साथ भी।

[**दीनू का प्रस्थान। मुंडु उठ कर खिड़की खोल कर झांकता हुआ गुनगुनाता है**]

उड्डी भौंरा उड्डी भौंरा लमड़ी उडयारा ओ...।
कालु तेरा कोट भौंरा।
ऊं...हुं...
सत्या तेरा कोट भौंरा दूरे री पछाने ओ–ऽ।।

मुंडु : [खीझ कर] साला खुद ही गप्पें मार रहा है।

[पृष्ठभूमि का वातावरण उभरता है। साथ ही साथ 'मुंडु' की चिढ़ने की हरकतें]

सत्या : क्यों ? कहां गए ?

दीनू : तीन दिन के लिये बाहर गए हैं।

सत्या : पर तू यहां क्या कर रहा है ?

दीनू : कुछ भी तो नहीं। बस, गप्प लगा रहा था।

मुंडु : [चिढ़ कर] मेरा सर कर रहा था। लफंगा कहीं का।

सत्या : आज तुझे कोई काम नहीं था क्या ?

दीनू : मैंने पिक्चर देखने के लिये आधे दिन की छुट्टी ली थी मगर इस किरपु के पास आकर बैठ गया।

मुंडु : [चिढ़ कर] नहीं, नहीं। इसे भी ले जा पिक्चर देखने। हीरो बनता है साला। हूं। [आवाज़ देता है] सत्या। बात सुन सत्या। [लौट कर चारपाई पर बैठ जाता है।]

सत्या : [बोलती हुई भीतर आती है।] क्या काम पड़ गया सत्या के साथ ? क्या बात है ? [दीनू का प्रवेश] आज तो तू बड़ा वेफिकरी से बैठा है किरपे।

मुंडु : [दीनू को पेटी पर बैठने से रोकता हुआ] अरे यहां बैठ चारपाई पर, मेरे साथ। वहां सत्या को बैठने दे। [दीनू चारपाई पर आ जाता है।] बैठ जा सत्या।

सत्या : [बैठ कर] हां, तो किरपे···

मुंडु : कम से कम तू तो लोगों की तरह न बुलाया कर सत्या। 'किरपा राम' कहा कर। हमें भी तो पता चले कि हमारा असली नाम क्या है ?

दीनू : तू भी मुझे दीनू की बजाय 'दीना नाथ' कहा कर। इन लोगों ने हमें तो नीचे लगाया है पर हमारे नाम भी काट-छांट कर नीचे लगा दिये हैं। इनके अपने नाम देखो, [व्यंग्य से] छे-छे हाथ लम्बे। क्या मजाल कि रत्ती भर फरक आ जाए।

सत्या : मतलब यह कि आज फिर वही पुरानी कानफरैन्स हो रही है—'मुंडु और मुंडुगीरी। मालिक और मालिकी।'

मुंडु : और क्या करें सत्या ? मन हलका करने के लिये भूले-भटके एक अवसर हाथ लगता है तो हमें और कुछ सूझ भी तो नहीं पाता।

सत्या : पर मेरे पास आज इतना समा नहीं है। डॉक्टरानी ने गुड्डी को बुलाने के लिये भेजा है। पर वह घर पर ही नहीं।

दीनू : ठीक है। ज़रा-सा तो बैठ।

मुंडु : और सुना। क्या कुछ बीत रही है ? सुना है कि कुछ मेहमान आए हैं ?

सत्या : क्या मालिक और क्या मेहमान। नाकों दम आ गए हैं।

दीनू : क्यों क्या हुआ ?

सत्या : होना क्या है दीनानाथ ? वही। कभी-कभी अपने आपको बचा पाना कठिन हो जाता है।

मुंडु : कोई नया किस्सा बना रही हो ?

सत्या : किस्सा क्या बनाना है किरपा राम। पहले तो डॉक्टर के लड़के का ही जवाब नहीं। आता जाता शरारतें करने को होता है, [नकल] 'सत्तो, तू बहुत अच्छी है।··· सत्तो, तू बड़ी चंचल है। ···सत्तो मेरे काम में दिलचस्पी लिया कर। तुझे इन्हाम दूंगा। मेरे शौक निराले हैं।'

[मुंडु और दीनू की हंसी]

और तो और अब एक नयी शै आई हुई है। बिल्ली आंखों वाला। जब देखो तभी वह मेरी ओर कनखियों से देखता रहता है। [विभिन्न मुद्राओं से समझाती है।] यों··· ! कभी यों··· ! कभी··· ! सुबह तो मुआ मुझे यों देखकर कुछ गुनगुना भी रहा था।

मुंडु और दीनू : [एक साथ] अच्छा···?

सत्या : और नहीं तो क्या ?

दीनू : तो तू कुछ नहीं कहती !

सत्या : क्या कहना और क्या नहीं कहना दीनानाथ। हम लोग क्या कह सकते हैं ? मैंने दस घरों में काम किया है। नौ घरों में कोई न कोई राक्षस मिल ही गया। बहुत मुश्किलें पेश आईं। पर एक वह भगवान् रक्षक रहा और दूसरी मैं खुद अपनी।

मुंडु : सुना दीनानाथ ? क्या कह रही है यह ? कितने बड़े, कितने ऊंचे लोग हैं यह ? गुड्डी के बारे में···मैं तो सिरफ सोचा ही करता हूं लेकिन यह लोग हमारी इज्जतों पर हमला करने की सोचा ही नहीं करते···यत्न भी करते रहते हैं। बस, दाव लगने की देर है।

सत्या : अगर किसी बड़े बूढ़े को या सयाने को सहायता के लिये सुनाया भी जाए तो जानते हो वे क्या कहेंगे ?

दीनू : यही कि झाड़ी पार न कर सकी और अब कहती है कि झाड़ी बाधाएं खड़ी करती है।

सत्या : और क्या ? दीनानाथ ! हम लोग छोटे लोग कहलाते हैं। हमारी हर बात को छोटा ही समझा जाएगा···चाहे कितना भी ऊंचा काम कर जाएं।

मुंडु : कहती तो तू सच ही है, सत्या !

दीनू : अभी परसों की बात है। मालकिन की रजाई पर एक काला सांप आकर बैठ गया। यों समझो कि रजाई के नीचे मालकिन और ऊपर सांप। साहब थे कि दूर से

चिल्ला रहे थे। [नकल] सांप··· । अरे सांप··· ! कोई है··· ? दीनू···, अरे दीनू ।

सत्या : हरे राम राम । फिर क्या हुआ ?

दीनू : होना क्या था । अपनी जान की बाज़ी लगा कर मैंने सांप को एक तरफ हटाया । बहुत बड़ा मुकाबिला हुआ । आखिर किसी तरह से मैंने उसे मटके में बंद कर दिया । तौबा ! तौबा ! करती मालकिन उठ कर साहब के पास जा बैठी । कुछ ही देर में काम शुरू हो गया ।

मुंडु : क्या काम ?

दीनू : पहले मटके को जंगल में छोड़ने गया । आया तो···'जा दीनू दूध का गिलास ले आ । देख बेचारी का दिल डर के मारे अभी तक धड़क रहा है ।'

मुंडु : क्या साहब चाहते थे कि दिल धड़कना बन्द कर दे ?

सत्या : [हंसी के बाद] तुझे किसी ने कुछ नहीं कहा ?

दीनू : कहा । सिरफ दो बार कहा, [नकल] 'शाबाश, शाबाश' ! और बस ।

मुंडु : देखा सत्या । अगर जेल में रह कर यह बहादुरी की होती तो फौरन सिफारिश हो जानी थी कि इसकी सज़ा में रिआयत की जाए । और एक यह लोग हैं······ । [कह कर सहसा एक ओर जा कर खड़ा हो जाता है ।]

सत्या : यह हमी जानते हैं किरपा राम कि मुंडुगीरी किस तरह होती है । नहीं तो क्या मालूम ये लोग हमारे साथ कैसा कैसा व्यवहार करें ।
[दीनू और सत्या की बातचीत के मात्र संकेत दिखाई देते हैं]

मुंडु : [एक ओर अकेला] आखिर सत्या के साथ बात करके देख ही लेनी चाहिये । पर··· पर दीनानाथ चला जाए तो ही बात हो सकती है । ···दीनानाथ बेचारा क्या करेगा ? शरीफ आदमी है । और फिर मालूम नहीं कब अवसर मिलेगा ।

सत्या : अच्छा किरपा राम । मैं चली ।

मुंडु : तनिक बैठ तो !

सत्या : न बाबा न । बहुत देर हो गई यहां । डॉक्डरानी जाते ही खरी-खोटी सुना देगी । [नकल] 'गई थी गुड्डी को बुलाने और बैठी रही मुंडु से चिपक कर ।'

दीनू : लानत है ।

मुंडु : तू एक दिन कह रही थी कि तेरे ब्याह की बात चल रही है ।

सत्या : चल रही थी पर पूरी न उतर सकी । घरों में काम करने वालियों को लोग शक्की आंखों से देखते हैं···चाहे वे कितनी भी सच्ची क्यों न हों । [बात बदलते हुए]

…आते जाते चालाकियों से पूछा करते हैं, [नकल] 'सबज़ी में नमक ज्यादा तो नहीं डाल दिया ?' इस पर अगर कह दो कि पूरा है तो शामत आ जाती है। और अगर कहो कि कम है तो खैर नहीं। अगर कह दो कि ज्यादा है तो मुसीबत है। हम जाएं तो जाएं कहां ?

दीनू : [**हंस कर**] बहुत दिनों मेरे साथ भी यही होता रहा। फौरन आंखें दिखाने लगते, 'तुझे कैसे मालूम हुआ कि नमक कम या ज्यादा है ?' आखर मैंने सचमुच 'तरीं' पीना शुरू कर दी। अब कोई पूछ भी लेता है तो पलेट में सबज़ी डाल कर पेश कर देता हूं—'चख लें जी !'

सत्या और मुंडु : [हंसी]

मुंडु : 'तरी तरी दीनानाथ ते प नी पानी मालिक'।

दीनू : कुछ कहने की सीमा होती है किरपा राम, कुछ सहने की भी सीमा होती है।

सत्या : ठीक ही करता है तू। ऐसे वैसों के साथ यों ही निपटना चाहिये। अच्छा, अब मैं चली। बहुत देर हो गई।

मुंडु : [**जाती हुई सत्या से**] ब्याह की बात आधी ही रह गई सत्या।

सत्या : [**पृष्ठभूमि से**] आस लगाए रखो किरपा राम।

दीनू : [**श्वास**] चली गई। सत्या चली गई।

मुंडु : तू तो यों कह रहा है जैसे संसार से चली गई हो। [**दीर्घ श्वास**] अरी ओ पगली स…त्…या…ऽ…! [**दीनू से**] चल, ताश निकाल। दो बाज़ियां लगा लें।

दीनू : कांटा बदली कर लें। [**पैंट की जेब से ताश निकालता है।**]

—यवनिका—

तीन कविताएं

—जफर अहमद

कविता—I

एहसास की
पहली ही बरखा ने
सारे दरख्तों को गदरा कर
ऐसे कर दिया है
जंपे उन्हें
सब रंग दे दिया है

जीवन के
इस अनोखे अनुपम सबरंग मौसम में
मेरा मन करता है
अपने अस्तित्व के सारे जंगलों को
एकदम इतना गहरा घना हरा हो जाने दूं
कि जब वह इसमें आके बसे
तो उसे और मुझे
इस बात का बिलकुल ध्यान न रहे
कि हमने
कितने बनबास काटे हैं !

———

कविता_II

जंगलों से भागे जानवर
जाना चाहते हैं
फिर उन्हीं कुंजों में
जहां से
जन्म लिया था
हमने !

———

हुसैन[1] के घोड़े

हुसैन के घोड़े
बेशक
प्यासे हैं
पर उनको प्यास
उस सुख का भी
बोध कराती है
जो
प्यास बढ़ाता है

———

१. एम० एफ० हुसैन

—निर्मल विनोद

पारदर्शी पल

एक झीना —
पारदर्शी-पल
रुका-सा ।

झांक-देखा—
कांच के उस पार
बहुत हलका-सा—
धुएं-सा —
अक्स मेरा
रोकता था आंख, पर बेकार ;
गढ़ गया लो !
दृष्टि में—
बूढ़ा—
अपरिचित-सा ;
झुका-सा ।
एक झीना—
पारदर्शी-पल
रुका-सा ।

क्या अनोखा-सा—
तना है जाल !
एक पिंजरबद्ध की,
क्या जिन्दगी है ?
भूल अपनी चाल है बेहाल ;

यह भला-सा—
शाम का साया—
कहां का है—?
चुका-सा !

एक झीना—
पारदर्शी-पल
रुका–सा।

मौसम का मवेशी

दूर, टहनी पर टंगा—वह
झूलता-सा
—ज़र्द पत्ता
काश !
मौसम का मवेशी—
चर गया होता !

भुरभुरे एकांत का—
पत्ता अकेला
क्यों वहां पर शेष है—?
अब तक बचा-सा !
काश ! होता—
झर गया होता !
काश !
मौसम का मवेशी—
चर गया होता !

बावरा है पर्ण
—कितना—
मोह-रत्-सा,
लटकता—
निर्जीव-जीवित
उफ !
मरा-सा ;
काश ! होता—
मर गया होता !
काश !
मौसम का मवेशी—
चर गया होता !

—

कविता

सामने का पेड़

—केदार नाथ कोमल

चंद साल पहले जब
इस क्वार्टर में आया था
तो सामने का पेड़
छोटा-सा बच्चा था।

देखते-देखते
वह पेड़ छत से ऊंचा हो गया
जैसे पेड़ बढ़ता जाता है
शायद मेरा ज्ञान घटता जाता है !

बरसात के मौसम में वह
गुनगुनाता है
बसंत में वह
स्वयं गीत बन जाता है
याने हर मौसम में
नये गुल खिलाता है

आजकल गर्मी का मौसम है
बीमार हूँ
नींद नहीं आती रात-भर
सड़क की रोशनी में
पेड़ की पत्तियां यों
आवाज देती हैं जैसे
बच्चा खिलखिलाता है—
नये गीत गाता है।

मुझे भ्रम नहीं
विश्वास हो गया है कि
यदि पेड़ के हाथ में
कलम होती तो
मेरे से बढ़िया गीतकार होता
और मैं लंबी तान के सोता !

———

आकलन

'भूरी भूरी खाक धूल' की ठोस भूमि

—डॉ० क्षमा गोस्वामी

सन् पचास के बाद की कविताओं के सृजनात्मक बोध के प्रति बहुधा आलोचकों की दृष्टि नकारात्मक ही दिखलाई दी है। अनेक आलोचकों को यह शिकायत रही है कि इस दौरान की कविताओं का ढांचा आज के टूटते बिखरते मूल्यों के तीव्रतर प्रभावों को चित्रित अवश्य करता है, पर वह किन्हीं जीवन मूल्यों का निर्माण नहीं करता दीखता। मुक्तिबोध के काव्य-संग्रह —भूरी भूरी खाक धूल—ने एक बार फिर से आज के काव्य-संसार को समग्र रूप से मूल्यहीन हो जाने के आरोप से बचा लिया है। उन्नीस सौ चौंसठ में प्रकाशित 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की कविताओं की दृढ़ संकल्प शक्ति ने प्रत्येक ईमानदार हृदय को प्रभावित किया था। काव्य-सग्रह की 'अंधेरे में' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में कवि ने हम सबसे समाज के प्रति एक महत्त्वपूर्ण दायित्व का बीड़ा उठाने का आग्रह करते हुए कहा था—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुंचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने को मिलेंगी बाहें
जिनमें कि प्रतिपल कांपता रहता
अरुण कमल एक।

'भूरी भूरी खाक धूल' की कविताएं फिर से, आज के उत्पीड़न से भरे समाज को, शोषण की किलेदारी में बंद मानव को, अपनी मुक्ति के अभियान की दृढ़ संकल्प ऊर्जा से झकझोर देती हैं। इन कविताओं के सम्पूर्ण ढांचे में निहित, कवि की अपने सम्पूर्ण परिवेश का सजग निरीक्षण करते हुए, उनमें फैली विसंगतियों और दुर्घटनाओं के यथार्थ को बेझिझक ढंग से कहने की साहसी वृत्ति एक ओर हमारे मन में ताजगी घोल जाती है, तो दूसरी ओर विसंगतियों

ग्रौर दुर्घटनाओं से जूझने के लिये, इन कविताओं का विस्मयकारी आग्रह, हमें ग्रदम्य साहस ग्रौर मनोबल प्रदान करता चलता है। सम्पूर्ण काव्य-संग्रह में एक आस्था ग्रौर विश्वास का स्वर प्रतिध्वनित हुआ है। बीसवीं शताब्दी के अनास्थावादी युग में यह स्वर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'भूरी भूरी खाक धूल' की कवितायें फिर से हमें, अपने ताजे बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से नव-समाज के निर्माण का दायित्व बोध कराती चलती हैं। पूरा काव्य संग्रह नव-समाज के निर्माण का गूंजता हुग्रा अभियान है।

मुक्तिबोध निश्चित रूप से समाजवादी चिन्तनधारा से प्रभावित थे। वे जिस नव-समाज की कल्पना करते थे, वह पूंजीवादी संरचना के स्थान पर, समाजवादी संरचना पर आधारित समाज है। उनकी दृष्टि में नव-समाज की स्थापना का एकमात्र उपाय शोषण के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष ही है। देश के जनमानस के अन्दर, मुक्तिबोध इस मुक्तिकामी संघर्ष को निरन्तर सक्रिय देखना चाहते थे। इसीलिए वर्तमान प्रचण्ड शोषणकारी परिस्थितियों में भी उन्हें जनमानस के अन्दर, उनके भविष्य को प्रज्जवलित करने वाले सूरज के दर्शन होते हैं। उन्हें उनके ग्रभाव और निराशा से पूर्ण जीवन में भी मुक्तिकामी क्रांति के युगान्तकारी सितारे दमकते दिखलाई देते हैं—

ग्राधुनिक जीवन यह महान है
जन-जन के उरों में ग्राज
संघर्ष का, साहस का सुनहला गान है
जन-जन के हृदय में ग्राज नया सूरज उगा है
कि जिसके संस्पर्शों में
खिले हैं धरती की ज्वालाग्रों के नभचुम्बी शाद्वल
चमकते हैं गम्भीर युगान्तकारी
शक्तियों के ग्रंगारी सितारे
मानवीय संघर्ष के (काव्य के) सहारे।

मुक्तिबोध द्वारा जनजीवन को देखने का यह दृष्टिकोण, विशेषकर आज के उन सभी साहित्यकारों से जीवन को नवीन दृष्टि से देखने का आग्रह करता है जो आज के जीवन में फैले निराशा और कुण्ठा के घोर ग्रंधकार में, उजाले को खोजने का प्रयास न कर, किन्हीं ठोस मूल्यों पर आधारित साहित्य के सृजन से कर्त्तव्यविमूढ़ होते जा रहे हैं। इनके लिये मुक्तिबोध का काव्य जीवन के प्रति नई दृष्टि विकसित करता है। उन्हें आस्था ग्रौर विश्वास के ठोस मूल्यों पर आधारित साहित्य के सृजन की प्रेरणा प्रदान करता है।

जन-मानस के अन्दर युगान्तकारी शक्तियों के ग्रंगारी सितारों को चमकते देखने के लिये कवि ने जिन जीवन मूल्यों की स्थापना की है, वे निश्चय ही साहसपूर्ण हैं। उसके अनुसार नव-समाज की स्थापना सम्भव है यदि आज का मानव अन्याय को चुनौती देने के लिये प्रत्येक संघर्ष को सहने का बीड़ा उठा ले। इसके लिये उसे अदम्य आत्मबल ग्रौर सत्य को धारण करना होगा। अवसर आने पर जीवन के बलिदान के लिये भी तत्पर रहना होगा—

सत्य के गर्वीले
अन्याय न सह, मित्र
संघर्ष करता हुआ तू जीवन का खींच चित्र
मिथ्या की हत्या कर बुद्धि के, आत्मा के विष भरे तीरों से
खींच चित्र मानव का प्राणों के रुधिर की लकीरों से।

संघर्ष सहने का यह अदम्य साहस, आत्मबल, सत्य और सहर्ष बलिदान हो जाने की प्रवृत्ति यदि आज हम सब धारण कर लें, तो कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो देश की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तनों को रोक सके। किन्तु इस देश की विडम्बना कुछ और ही है। यहां समाजवाद का सपना पिछले तैंतीस वर्ष से देखा जा रहा है। कब पूरा होगा? पता नहीं। अभी तक तो हम उसके पूरे होने की घोर असफलता के दौर में ही हैं। मन बहलाने के हेतु इस असफलता के लिये अनेक कारणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः इस असफलता का मूल कारण एक ही है। आज देश का निर्माण करने वाले सभी क्षेत्रों के लोग, नव-समाज के निर्माण के सपनों को भूलकर अवसरवादिता के चक्कर में बुरी तरह फंसते जा रहे हैं। आज व्यक्ति के लिये उसका स्वार्थ और लोभ-प्रलोभन आदि सबसे महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। इसकी पूर्ति के लिये एक अजीब सी भाग-दौड़ पूरे समाज में मची है। आज राष्ट्र से महत्त्वपूर्ण स्वयं व्यक्ति हो गया है। स्वयं मुक्तिबोध के ही शब्दों में इस यथार्थ का चित्रण देखिए—

अब अनुभव-जनिता तड़िताघात ज्योति
में आस्था रह न गयी
इसीलिये कि आत्मा
एक चोर संचालित संस्था
लोभ लाभ अहंकार के स्रोत
आज संगठन और संरक्षक हैं
इस संस्था के
इसीलिये छोड़ अपना स्वदेश वह वास्तव अनुभव-लोक
गये दूसरी ओर
दूसरे शिविर में।

ऐसे मूल्यहीनता के युग में 'भूरी भूरी खाक धूल' फिर से हमें अपने कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। हमें निजी स्वार्थ से ऊपर उठना होगा, आत्मसंघर्ष को स्वीकार करना होगा तभी हम समाज में किसी परिवर्तन के सपने को पूरा कर सकेंगे। अन्यथा देश की वर्तमान स्थिति तो निश्चय ही भयानक है।

देश की इस स्थिति के लिये कवि को राजनीतिक नेताओं से भी अधिक अंपने साथियों से शिकायत है। देश का वह बुद्धिजीवी वर्ग जो अपने जीवन को समाजवादी फिलासफी से संचालित समझता है, अन्दर से कितना खोखला होता जा रहा है, मुक्तिबोध बेझिझक होकर

इस यथार्थ को उजागर करते हैं। कल तक जो लोग मार्क्सवाद के सिद्धान्त की बड़ी बड़ी बातें करते थे, क्रांति के नारे लगाते थे, आज समाज में फैलते जाने वाले अवसरवादिता के शोरगुल में निजी अस्तित्व को ही भूलते जा रहे हैं। कवि को इनकी वस्तुस्थिति पर आश्चर्य है—

लोगो ..
एक जमाने में जो मेरे ही थे ;
बहुत स्वप्न-द्रष्टा थे ;
कवि थे, चिन्तक और क्रांतिकारी थे
क्या हो गया तुम्हें अब
प्रतिदिन कर उपलब्ध सत्य
अब खो देते अगले क्षण ही
निज द्वारा अनुसन्धानित होते हैं अन्तर्हित
बाहरी जिन्दगी के होहल्ले-मेले में
अपने अनुभव के पुत्र गवां देते हो क्यों
क्यों बिछुड़े तुम अपनों ही से ।

यह इतिहास सिद्ध है कि साहित्य में सामाजिक परिवर्तन के लिये तोप, तलवार और बारूद से भी कई गुणा अधिक शक्ति होती है। फ्रांस और रूस की जन-क्रांतियों के मूल में समाजवादी साहित्य की प्रेरणा ही थी। भारत में १६३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी। प्रेमचन्द के अध्यक्षीय भाषण के इन शब्दों ने कि—साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है—जन-समाज को साहित्य के ऊपर बहुत कुछ निर्भर हो जाने का आग्रह किया था। एक बार समाज को यह लगा था कि भविष्य में लिखा जाने वाला साहित्य अवश्य ही उसके जीवन को नई दिशा दिखलाने वाले सच्चे मार्गदर्शक की भूमिका अदा करेगा। किन्तु कालान्तर में समाज की ये आशाएं पूरी न हो सकीं। स्वतन्त्रता के पश्चात् समाज की महत्त्वपूर्ण कुर्सियों को हथियाने के लिये दौड़ का जो सिलसिला जारी हुआ है अनेक प्रगतिशील कहलाये जाने वाले लेखक भी इस दौड़ में सम्मिलित होकर दिशाविहीन होते दीख पड़ते हैं। उनके सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आया है। सिद्धान्त में वे भले ही अभी भी मार्क्सवादी होने का दावा कर सकते हैं पर वे व्यवहार से पूर्णरूपेण सामन्तवादी होते जा रहे हैं। देश में फैलते जाने वाले अमानवीय शोषण को लेकर इन बुद्धिजीवियों के मध्य चाय और काफी के साथ गरमागरम बहस अवश्य होती है, किन्तु उसके प्रति उनकी कोई व्यावहारिक प्रतिक्रिया नहीं होती दीखती। गरम चाय और काफी का प्याला समाप्त होने के पश्चात इनके लिये ज़िन्दगी भोजन और भोज से अधिक और कुछ नहीं। मुक्तिबोध के शब्दों में ही इस यथार्थ को देखिये—

मिल गयी ऐसी बात
जिससे कि ढीली रगें तन जाएं

भीतर तनाव हों ;
व विचारों का घाव हो
आये दिन ठण्डी इन रगों को
गर्मी की खोज है,
वैसे यह जिन्दगी
भोजन है, मौज है ।

वास्तव में हमारे यहां प्रगतिशील साहित्य एक सशक्त आन्दोलन होने के पश्चात भी सर्जनात्मक स्तर पर अधूरा ही पड़ता रहा है । 'नया साहित्य जुलाई, १९४९' में प्रकाशित भिवंडी सम्मेलन का यह वक्तव्य आज भी सार्थक जान पड़ता है कि 'यह कहना जरूरी है कि प्रगतिशील साहित्य भी दोषों से मुक्त नहीं रहा है, और हम उसे और भी उन्नत तभी कर सकते हैं जब हम इन दोषों को समझें और उन पर विजय पायें । इस दौर में तमाम प्रगतिशील साहित्य में जो सबसे बड़ी कमी रही है वह यही कि प्रगतिशील लेखकों का लगाव जनता से, जिनकी अगुवाई मजदूर श्रेणी कर रही है, काफी नहीं रहा है । यही कारण है कि किसानों और मजदूरों के जीवन और संघर्ष से सम्बन्ध रखने वाला सृजनात्मक साहित्य परिमाण में इतना थोड़ा है··· ।' (आलोचना नवांक २९ से उद्धृत)

इसमें कोई दो मत नहीं कि हिन्दी में प्रगतिशील आंदोलन कोई सशक्त अभियान चलाने में निश्चय ही असफल रहा है । आलोचना के इसी अंक के सम्पादकीय लेख में स्वयं मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह ने इस तथ्य को स्वीकारा है । लेख में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यद्यपि 'आमुख', 'अर्थात्', 'उत्तरार्द्ध', 'और', 'कथा', 'पहल', 'परिवेश', 'बातचीत', 'भंगिमा' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक युवा लेखक कम-से-कम अपने विचारों में सामाजिक जिम्मेदारी का आभास दे रहे हैं 'फिर भी यह कटु सत्य है कि अभी तक वामपंथी लेखकों का कोई व्यापक संगठन नहीं बन सका ; यही नहीं बल्कि संगठित होने की प्रक्रिया में विघटन की प्रक्रिया ज्यादा तेज हो रही है । निःसन्देह इस प्रक्रिया में टुटपुंजिया मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी संस्कारों का बहुत बड़ा योग है, जिसके व्यक्त रूपों का विश्लेषण आवश्यक है ।' निःसन्देह आज प्रत्येक प्रगतिशील कहलाये जाने वाले लेखक को चाहिए कि वह स्वयं यह विश्लेषण करे कि वह किस सीमा तक समाज में प्रगतिशीलता के आग्रहों का अनुमोदन करता है—हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह आवश्यक स्थिति पैदा हो गयी है । अब केवल दाढ़ी बढ़ा कर मार्क्स की गंभीर मुद्रा में, काफी हाउसों में बैठ कर, देश की शोषित अवस्था पर बहस करने के दिन नहीं रहे हैं । आज देश इतने नाजुक दौर से गुजर रहा है कि वह अपनी मुक्ति के लिये इन बुद्धिजीवियों से संगठित होकर एक सक्रिय आंदोलन की मांग करता है । आज के बुद्धिजीवियों को शोषित जनता के आग्रहों को आत्मसात करके, उनके उत्पीड़न को संवेदनात्मक अन्तर्जीवन में मिला कर एक सशक्त संकल्पशील अभियान चलाना है, जिसके लिये उन्हें मुक्तिबोध का आदर्श ग्रहण करना होगा । कवि ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा

अन्य निबन्ध' में समकालीन कवियों से इस प्रकार के आग्रह स्वीकार करने के लिये उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा था, 'उसे वास्तविक जीवन में अपनी कायरता, साहसहीनता, अकर्मन्यता त्याग कर समाज में फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए मानवीय संवेदनाओं से दुःखाभिभूत और करुणापन्न होकर, मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना होगा। हो सकता है कि इस स्थिति में वह मर जाये और उसके नाम पर रोने वाला भी कोई न हो। लेकिन कुछ लोगों को इस तरह जमीन पर लड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ यदि हमारा नया कवि मूल्य व्यवस्था विकसित करते हुए मानव समस्या चित्रित करता है तो निःसन्देह वह युग-परिवर्तन करने के श्रेय का भागी होगा।' इसीलिये मुक्तिबोध कोरी नारेबाजी से हट कर अनुभूति के स्तर पर मैली गंदी गलियों में रहने वाले लोगों में घुल-मिल कर, उनके दुःखों को झेलते हुए सम्मिलित रूप से मुक्ति का अभियान करते हैं—

तेरे जैसे पीड़ित कि शोषित असंख्य जन
कब से खड़े हैं, मित्र तेरे इन्तजार में
बांहों में भर ले छाती में डुबो ले आज
उनके अपार प्यार-भरे मन, यों अपने को उबार ले!!
उनके सहयोग से तू उनके ही साथ-साथ
खींच चित्र मानव का प्राणों के रुधिर की लकीरों से।

मुक्तिबोध के जीवन मूल्य मात्र हवाई या काल्पनिक प्रत्यय नहीं हैं उनमें प्रतिबद्धता की गरिमा है, आत्म बलिदान का अदम्य साहस है—

छटपटाते मेरे मुक्तिकामी पैरों की मोच
चीख उठती है—
प्रेम, राग-रागिनी युद्ध
सब, एक साथ एक ओर पंक्तिबद्ध चलेंगे औ' गूंजेंगे
पहले तो किसी की अस्थियों से
किसी के लिये वज्र बनेगा
कदाचित मेरी भी अस्थि कभी किसी काम आ जाये
जनों के हाथों में खिलाफ जानवरों के।

निश्चय ही 'भूरी भूरी खाक धूल' एक ऐसी ठोस भूमि को प्रस्तुत करता है जिस पर नव-समाज की ठोस नींव रखी जा सकती है। इसकी कविताएं शोषित समाज के परिवर्तन के लिये दृढ़ संकल्पन की प्रेरणा का स्रोत हैं।

———

पुस्तकें और पुस्तकें

गुरीन्द्र 'मानव' का ''उद्गम'[1] उनका पहला कविता-संग्रह प्रतीत होता है। कवि-वक्तव्य से कविताओं के सम्बंध में बहुत-सी आशाएं बंधती हैं क्योंकि वह समकालीन सही सोच के निकट पड़ता है। लेकिन कविताएं उन आशाओं के विपरीत ही प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं।

मोटे तौर पर दो प्रकार की कविताएं हो सकती हैं। एक वे जिनमें विचार-पक्ष मुखरित रहता है और अनुभव की आंच केवल महसूसी जा सकती है और दूसरी वे जिनमें अनुभव मुखरित रहता है यानी घटना आदि प्रमुख रहती है और विचार उससे निकलता हुआ प्रतीत होता है। दोनों ही स्थितियों में कविता का स्रोत जीवन होता है। लेकिन कुछ कविताएं ऐसी भी हो रही हैं जो जीवन की न लग कर किताबी लगती हैं। ऐसी कविताओं में अच्छी-अच्छी नैतिकता की बातें मिल सकती हैं, पद्य-बद्ध शाश्वत् मूल्य मिल सकते हैं लेकिन कविता नहीं मिल पाती क्योंकि इनके रचनाकारों ने जीवन से अनुभव लेकर नहीं रचा होता है। मैं नहीं जानता कि प्रस्तुत संग्रह के कवि की क्या स्थिति है लेकिन इतना अवश्य है कि मुझे ये कविताएं समसामयिक जीवन, उसकी संगतियों-विसंगतियों, संघर्षों आदि से कटी हुई कविताएं लगी हैं। मेरी यह सीमा है कि मैं ऐसी कविताएं पसन्द नहीं कर पाता।

इन कविताओं में दार्शनिक-मुद्रा सर्वत्र मिलती है; मृत्यु-जीवन जैसे विषयों पर विचार मिलते हैं लेकिन अपने समय और जीवन के प्रति कवि का निजी अनुभव नहीं मिलता। अपने समय को जीते हुए कवि इन विचार-बिन्दुओं पर पाठक को ले आता तब भी कविता का मजा दे सकता था।

फिलहाल, इतना ही कह सकता हूं कि 'उस पार' और 'बड़ा आदमी' जैसी रचनाएं इस कवि के प्रति कुछ अपेक्षाएं जरूर जगाती हैं।

—दिविक रमेश
बी–५७, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर, नई दिल्ली–११००२४

१. उद्गम / गुरीन्द्र मानव / प्र० सं० १९७९ / ६ रुपये / राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, भोपाल।

साम्प्रतिक कविता[2] संग्रह के कवियों में यदि कोई विशेषता सर्वमान्य है तो वह यह है कि इनमें अपने परिवेश की गहरी पहचान का उपक्रम है। इस देश में, कवियों को लगने लगा है कि गति रुक गई है, एक उवाऊ ठहराव आ गया है। हम अब झूठ जीते जीते तंग आ गए हैं। क्रांति की छटपटाहट सबके मन में है पर छोटी-छोटी सुविधाओं के पीछे अन्याय से समझौता कर रहे हैं। कवियों में इस छटपटाहट को शब्द देने का रुझान है पर वे अपनी बात को किसी पक्षधरता में पड़ जाने के डर से आधा ही कह देते हैं। इससे उनमें एक तरह की बेईमानी आ जाती है जिसे वे शब्दजाल में छिपाने की कोशिश करते हैं।

दमघोंटू परिवेश को एक झटके से तोड़ देने की अभिव्यक्ति 'साम्प्रतिक कविता' में संकलित कवियों में दो तरह से हुई है। एक यह कि परिवर्तन की इच्छा है पर उसे लाने का कोई रास्ता नजर नहीं आता, जिससे क्षणिक निराशा छा जाती है। दूसरे यह कि कवि साफ भाषा में तलख बात कह देता है। जब रास्ता नज़र न आता हो तब मन केवल करवट बदलने को ही इति मानता है—

मैं बहुत सुरक्षित हूं चारों ओर से / हवा भी मेरा बाल बांका नहीं कर सकती, / लेकिन मैं कहती हूं – मुझे बचाओ। (दिवा पांडेय)

× ×

हो सकता है / दर्दों को फुंकते / या कपाट खोलते खोलते / मेरी सांसें / मेरा साथ न दें / पर यह निश्चित है कि / मेरा खून / मेरी सांसें न रहने पर भी / मेरा साथ अवश्य देगा। (पृथ्वीनाथ 'मधुप')

लेकिन इस संग्रह की अधिकांश कविताएं उवाऊ ज़िन्दगी को उघाड़ कर इसमें पाए जाने वाले विरोधों को बिना किसी दुराव के पेश करती हैं और उस दिशा को स्पष्ट संकेतित करती हैं जो हमारे समाज की नियति है और जिसकी प्राप्ति हमारे प्रयत्नों का एकमात्र उद्देश्य हो सकता है—

चलो, पतवार समेट लो / और नौकाओं को खुली छोड़ दो / क्योंकि समुद्र में आग लगने की आगाही है। (दिवा पांडेय)

× ×

इसीलिए कहता हूं हवा गर्म है / भड़भूजे के भाड़ में पड़े गर्म बालूरेत सी / जिसमें पड़ा छोटा सा सूखा हुआ चना भी / गोली बन जाता है। (सुखबीर सिंह)

सुखबीर सिंह की कविताओं में दर्द की चुभन तथा इससे मुक्ति के उपक्रम की बड़ी तीखी अभिव्यक्ति मिलती है। उसमें कोई कृत्रिमता नहीं—

बार-बार सोचता है / जगेसर पासवान ; / आखिर गलती कहां हो गई ? / सुरक्षा की गारंटी देने वाली वह बूढ़ी आवाज / किन खंडहरों में खो गई ? / जिस पर विश्वास कर —/ करोड़ों कमजोर हाथों ने / भारी भरकम सिंहासन पलट दिया था। (प्रश्न)

---

२. साम्प्रतिक कविता / सं० श्याम नारायण / प्रकाशक : अन्तर प्रकाशन, ४३/१२ सी-२-सी, जनकपुरी, नई दिल्ली / मूल्य : १२ रुपये / प्रथम संस्करण : १९७८ /

इसी प्रकार उनकी 'गर्म राख' कविता में क्रांति की छटपटाहट एक सीधे वार्तालापमय कलेवर में उभरती है। कवि गांव-देहात और महानगर के गंदे कोनों में मिलने वाले दबे-दुबके सूखे पुआल को इकट्ठा करके उसमें आग लगाने की बात करते हैं। यहां के लोगों की भीतरी आग की बात करते हैं जिसे केवल सुलगाना है।

पृथ्वीनाथ 'मधुप' की इन कविताओं में एक ताज़गी मिलती है जो उनकी पहले की कविताओं में नहीं थी। वे जब कहते हैं कि **इनही नकाबपोश कठपुतलों ने / खिलाई है अफीम / बहुतों को यहाँ···रचता रहूंगा 'षडयंत्र' / मारो पत्थर कांटे अनन्त।** ···तो उनके बदले स्वर को स्पष्ट आंका जा सकता है।

धनंजय के गज़लनुमा गीतों में व्यंग्य काफी उभर कर आया है और विचार की पुख्तगी नज़र आती है—

जेल में बुड्ढा है तेरे बाल बच्चे ठीक हैं
तेरे माथे पर लिखा क्या है जो तू धोने लगा ?
सीधा दफ्तर से निकल कर जा तू अपने घर में बैठ
देख मत इस मुल्क में जो कुछ भी अब होने लगा।

देशव्यापी नपुंसकता तथा दिग्भ्रम का इस प्रकार सरल उक्तियों में बड़ा ही पैना चित्रण प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार धनंजय सिंह के गीतों में भी उक्ति वैचित्र्य के बावजूद समाज-सापेक्ष सत्य कहे गए हैं जो गीतों की व्यक्ति प्रधानता के विरुद्ध नहीं जाते—

तुमने दिनमानों के साथ साथ
बदली हैं केवल तारीखें
पर बदली घड़ियों का व्याकरण
हम किस महाजन से सीखें ?

श्याम नारायण में सामान्य अनुभव कवि की नितान्त व्यक्तिगत अनुभूति में यूं ढल गया है कि अभिव्यक्ति कई बिंबों और प्रतीकों में नये अर्थ ढूंढती प्रतीत होती है। इस प्रकार कुंई, कमल, मेमना, स्वर्णमृग, बसन्त, जंगल आदि सब पारम्परिक प्रतीक हैं पर इनके अर्थ नई भावाभिव्यक्ति में खुलते हैं—

धूप को झेलने के लिए / यानी उसकी किरणों से / खेलने के लिए / खून की तरह / लाल होना पड़ता है।

× ×

यह दोगला दृश्य जो / मोची के सूजे की तरह / दिमाग में / गड़ता है / लेकिन / देखने पर / मेमना दिखाई पड़ता है।

कटु यथार्थ को मुस्कुरा कर उड़ा देने या भुलाए रखने का भ्रम इनकी कविताओं में उघड़ कर रह जाता है। ज़मीन के ठोस आधार को न भुलाए जाने की बात वे बिना किसी लाग-

लपेट के करते हैं। 'मेरा देश' कविता में सादेपन के साथ ही साथ दर्द के तीखेपन का अनुभव है। वास्तव में श्याम नारायण की कविता में देश और परिवेश में व्याप्त दर्द की पहचान ही कवि का बौद्धिक यथार्थ बनकर उभरती है। ऐसे में उनकी भाषा बेरहम हो कर आघात करे तो यह उनके कवि-व्यक्तित्व के खरेपन की ही द्योतक है।

●

बदलते भाव : उभरते स्वर[3] के आवरण पर कोष्ठकों में लिखा है कि यह गीतों, गज़लों और कविताओं का 'अनूठा' संग्रह है। अनूठापन तो खैर, किसी कविता में दिखा नहीं, संग्रहण में तो और भी नहीं।

'कवि की ओर से' यह कहा गया है कि यह उसका प्रथम 'साहित्यिक काव्य-संग्रह है'। यह सही भी है क्योंकि इससे पूर्व उनकी 'मौलिक कृति', जिसका उल्लेख प्रस्तावना तथा डस्ट कवर पर कई बार हुआ है, 'सन्त-वचनामृत-रत्नकण' है। इसके अलावा उन्होंने 'आश्रम-भजनावली' तथा 'चैतन्य-लीला-रहस्य' जैसे ग्रन्थों का संपादन किया है। इन ग्रन्थों की कविता के नमूने हमें उपलब्ध नहीं, पर इसकी ज़रूरत भी नहीं क्योंकि कवि स्वयं यह भी कहते हैं कि उन्होंने 'छात्र-जीवन से ही काव्य-रचना आरंभ' की थी 'किन्तु बाद में हृदय भक्ति-काव्य की ओर प्रेरित हो गया।' अर्थात् काव्य-रचना की शुरुआत में अड़ंगा पड़ गया। कवि बेबस है क्योंकि उनका 'रुझान बचपन से ही धर्म की ओर रहा' है।

तो फिर 'भक्ति-काव्य' को छोड़ कर 'कविता' क्यों? वह इस लिए कि 'इन गीतों में मेरा 'अतीत' निहित है, जिसे मैं अपने जीवन का 'स्वर्ण काल' मानता हूं।' ऐसे में कवि के जीवन के 'स्वर्ण काल' को देखने को मन करता है। यों तो कवि को याद नहीं कि उन्होंने भारत-पाक युद्ध के बाद कोई प्रेमगीत लिखा हो 'जबकि कवि के लिए प्रेमगीत लिखना कोई अपराध नहीं है।' पर आप समझ सकते हैं कि युद्ध का प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है कि कोई कैसे प्रेमगीत लिखे? हां भक्ति-गीत लिखे जा सकते हैं। तभी तो कवि का भक्ति-गीत लेखन का 'सिलसिला अब भी जारी है' जो 'एक लघु आकार की विनय-पत्रिका बन' सकता है।

संग्रह की जो कविताएं रोमानी लगती हैं, वे युद्ध के आतंक से पहले ही लिखी जा सकती थीं, बाद में कोई कवि क्या खाकर प्रेम करता? कविताओं के शीर्षक तो देखे ही जा सकते हैं, कलेवर को पलटने की ज़रूरत कम पड़ती है—'साजन की याद', 'दुःखदाई प्रीत', 'विरह की आग', 'डूबती किश्ती' आदि। फिर ये अंश उभर कर कवि की युद्ध पूर्व मनःस्थिति का, उनके 'स्वर्ण-काल' में लड़खड़ाती भाषा का भी नमूना पेश करते हैं: —

लख कर मेरी करुण दशा को,
रो पड़ते जो पास भी आए।
मेरे किस काम की शीतल सुगंधित मंद पवन
तू यदि पास मेरे सब पे मैं कुर्बान हूं।

---

३. बदलते भाव : उभरते स्वर / डॉ० जगदीश चंद्र 'जीत' / प्रकाशक : श्री० शांति कुंज प्रकाशन, दिल्ली—११०००७ / मूल्य : छः रुपये।

फिर कवि की 'ग़ज़लें' हैं जो हर लिहाज़ से अपनी मिसाल आप हैं—

रोते बिलखते तो रातें गुज़रीं
मगर वो खड़े मुस्करा रहे हैं।
की हमने खता जोकि पंजे में आए
है मालूम अब वो जो जुल्म ढा रहे हैं।

कवि खुल पड़ते हैं अपनी भक्ति कविता में और वहां तुक छंद का बंधन नहीं रहता। वे बहुत ही 'मौलिक अनुभव' और बातें कहते हैं—

मैंने एक बात सुनी है
तुम्हारे ही भक्तों द्वारा कि तुम—
आह नहीं भरते परवाह नहीं करते
अपने बनाए विधान की। **(मैं तब ही क्यों)**

ईश्वरभक्ति तथा देशभक्ति के ज्वार में कवि चुन पाए हैं अपने लिए कुछ ऐसी अभिव्यक्तियां जिन का इस्तेमाल उनका कन्फ्यूजन उजागर करता है। मातृभूमि की रक्षा के लिए प्रेरित करते हुए कवि कहते हैं—

अब तो जागो
दुश्मनों ने दी है दस्तक द्वार पर तुम्हारे
लुट गई यदि लाज
और जल गया यदि घर तुम्हारा
तो रक्षा सतीत्व की—
और—खोदना कुएं का व्यर्थ होगा। **(मातृभूमि के लिए)**

कवि के सचेत उपक्रम के बावजूद, इस संग्रह में, एकाध जगह पर कुछेक उक्तियां अच्छी हैं जिनमें अकृत्रिम व्यंग्य उभरता है—

कैंची / गोंद / मक्खन / और— / पत्र-पुष्प / (गाइड से / आचार्य तक) / और— / एक डाक्टरेट की उपाधि।

यहां कवि के मौलिक अनुभव पर संदेह नहीं किया जा सकता (वे पी-एच० डी० हैं)। पूंजीपति का विश्लेषण करते हुए ईसा की पूंजीपतियों के स्वर्ग के अनधिकार सम्बंधी उक्ति उद्धृत करके कहते हैं कि—

पर— / यह बात पूंजीपति की समझ में नहीं आती / क्योंकि— / उसके शब्द अर्थ और व्याकरण अलग हैं।

इसी प्रकार 'नेताई खिलवाड़' में वे नेता से भी कहते हैं कि—
अच्छे है भिखारी तुम से / जो लेने के बाद / आशीष देते हैं।

—डॉ० रतनलाल शान्त
५५–वडियारबाला, श्रीनगर

अकादमी डायरी

●

- प्रदेश में साहित्यिक गतिविधियां केवल प्रमुख नगरों—जम्मू तथा श्रीनगर—में ही केन्द्रित न रहें, इसीलिए अकादमी के तत्वावधान में प्रदेश के छोटे-छोटे नगरों, कस्बों ग्रौर ग्रामों में साहित्यिक आयोजन किए जाते हैं। १६ दिसम्बर १९८० को, इसी संदर्भ में, कठूग्रा (जम्मू) में एक कहानी गोष्ठी आयोजित की गई जिसमें सर्वश्री विजय सूरी, राजेन्द्र पटवारी, कपूर और किशोरी मनचन्दा के अतिरिक्त कठूआ महाविद्यालय के छात्रों तथा छात्राओं ने भी अपनी कहानियों का पाठ किया।

- 'लिट्रेरी फोरम' के अन्तर्गत १७ दिसम्बर १९८० को हिन्दी साहित्यकारों तथा ३१ दिसम्बर १९८० को पंजावी साहित्यकारों के सम्मेलन आयोजित किए गए जिनमें क्रमशः हिन्दी उपन्यास और पंजाबी कहानी पर खुली बहस की गई।

- फिल्में हमारे सांस्कृतिक विकास की सूचना देने वाले माध्यमों में प्रमुख भूमिका निभा रही हैं। यही नहीं सांस्कृतिक आदान-प्रदान के स्तर पर भी फिल्में बड़ा उपयोगी कार्य कर रही हैं। दिसम्बर १९८० में ही रूसी और रोमानियाई दूतावासों के सहयोग से अकादमी के तत्त्वावधान में जम्मू में रूसी तथा रोमानियाई फिल्मों का प्रदर्शन किया गया।

- जम्मू में पहली बार मंच से जुड़े कलाकारों तथा तकनीकी अमले को प्रशिक्षण देने के स्थान पर विभिन्न भाषाओं के नाटककारों को नाट्य-लेखन के विभिन्न पहलुओं से परिचित करवाने के लिए १८ दिसम्बर १९८० से २७ दिसम्बर १९८० तक एक नाट्य-लेखन कार्यशाला का ग्रायोजन किया गया। इसमें सर्वश्री निर्मल विनोद, सुतीक्षण कुमार शर्मा 'आनन्दम', प्रभात कुमार त्रिक्खा और तपन महाजन (हिन्दी); परस राम पूर्वा, कु० अर्चना केसर, रमेश शर्मा और सुखदेव वशिष्ठ (डोगरी); देवेन्द्र सिंह, सर्वजीत सिंह, सुशील शर्मा (पंजाबी) तथा के० डी० मैनी (उर्दू) ने भाग लिया।

इस कार्यशाला में जिन विषयों पर पत्र पढ़े गए, उनका विवरण इस प्रकार है—

ड्रामा में किरदार-निगारी	—आफाक़ अहमद
चरित्र-चित्रण प्रति कुज बुनियादी तत्त्व	– प्रो० देवेन्द्र सिंह
फने-ड्रामानिगारी	—जितेन्द्र शर्मा
ग्राज के हिन्दी नाटक का शिल्प	—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त
नाटक और ऑपेरा	—दीनानाथ नादिम
ड्रामे में किरदारों की तस्वीरकशी और डोगरी ड्रामा	—प्रो० मदन मोहन शर्मा
संस्कृत नाटक की परम्परा और शूद्रक की रचना मृच्छकटिकम्	- प्रो० रामनाथ शास्त्री

- अपनी कला से देश ही नहीं, विदेश के रसिकों को भी मुग्ध कर लेने वाली कलाकार श्रीमती विजय राज़दान ने अकादमी के तत्त्वावधान में ८ जनवरी १९८१ को अभिनव थियेटर में आयोजित एक संगीत सभा में सितार और वायलिन के वादन का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया।

———



A Publication of :
J & K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu
Printed at : Amar Art Press, Moti Bazar, Jammu.